सत्यार्थ-सूत्र

:: ग्रन्थकार ::
पट्टाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी यतिराज

:: संकलन : :
सहजानंदी श्रमणरत्न सहजसागर जी मुनिराज

:: प्रकाशक ::
समर्पण समूह, भारत
जैनं वचनं सदा वंदे

आशीषानुकंपा	:	गणाचार्य 108 श्री विरागसागर जी यतिराज
ग्रन्थकार	:	पट्टाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी यतिराज
कृति	:	सत्यार्थ-सूत्र
संकलन	:	सहजानंदी श्रमणरत्न सहजसागर जी मुनिराज
पूर्णावलोकन	:	श्रुतसंवेगी महाश्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज
		श्रुतप्रिय श्रमणरत्न अप्रमितसागर जी मुनिराज
संस्करण	:	द्वितीय, 2000 प्रतियाँ, 2025
प्रकाशन	:	समर्पण समूह, भारत
एवं प्राप्ति स्थान		सागर – 97552-86521
		भोपाल – 91790-50222
		जबलपुर – 98276-07171
		इन्दौर – 98260-10104
		इन्दौर – 94253-16840
		भीलवाड़ा – 63766-49881
मुद्रक	:	गुरु आशीष ग्राफिक्स
		अंकित जैन शास्त्री, मड़देवरा, सागर
		मो. : 9755286521, 8302070717

।। शुभाशीष ।।

संपूर्ण विश्व में वे लोग ही उत्तीर्णता को प्राप्त हैं जिनको जीवन में सुनीति का सत्यार्थ बोध है। वस्तु के वस्तुत्व का वे ही सम्यक् अधिगम कर पाते हैं जो नय, न्याय एवं नीति में कुशल हैं।

आचार्य प्रवर सोमदेव सूरी की भाषा में; वे भव्यवर जीव लोक में सर्वज्ञ संज्ञा को प्राप्त करते हैं, जो व्यवहार ज्ञान में कुशल हैं। शास्त्रज्ञान कितना भी अर्जित कर लो; परन्तु व्यवहारज्ञता नहीं है तो शब्दबोध मात्र देश, राष्ट्र, समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर पाते, हीन भावना में जीते जी मर जाते हैं और जो व्यवहार कुशल हैं वह अल्पश्रुत सम्पन्न होने पर भी लोक प्रसिद्धि एवं आत्मसिद्धि को भी प्राप्त कर लेते हैं।

जगत् के वकवृत्ति वाले वंचकों से छले न जायें, इसलिये **'सत्यार्थ-बोध'** कृति का प्रणयन लेखन तत्त्व बोध के लिये किया है। कोरोना काल में विहार के चंडी नगर में किया था।

प्रसन्नता का विषय है **सत्यार्थ-बोध** के अन्दर से विशिष्टि-विशिष्ट सूत्रों का संग्रह कर **सहज स्वभावी, भद्र परिणामी, स्वसाधना में निमग्न, श्रुतानुरागी श्रमण मुनि श्री सहजसागर जी महाराज** ने **''सत्यार्थ-सूत्र''** का संकलन कर भव्य जीवों को सत्यार्थ का बोध प्रदान किया है जो कि भावी काल में भी भव्यों के कल्याण के हेतु बनेगा। मुनि श्री को यही शुभाशीष। वीतराग मार्ग को सदा जयवन्त करते रहें।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

नांदनी महाराष्ट्र, भारत **पट्टाचार्य विशुद्धसागर**

07/08/2024

।। सत्यार्थ-भावना ।।

सत्यार्थ-ज्ञान की प्राप्ति सत्यार्थ-साहित्य से ही संभव है और सत्यार्थ-बोध कराने वाले साहित्य से ही संस्कृति की रक्षा संभव है। भरत चक्रवर्ती के इस भारत देश में अनेकानेक छोटी-बड़ी संस्कृतियाँ पल्लवित हुईं। **उन सभी संस्कृतियों में गुरुता को प्राप्त प्राच्य दिगंबर जैन श्रमण-संस्कृति अनादि-निधन सनातन संस्कृति है।**

सत्यार्थ-भाव से चिंतन किया जाये तो आपको मालूम पड़ेगा—सत्यार्थ सनातन श्रमण संस्कृति का प्रासाद मुख्य चार स्तंभों में टिका हुआ है। ये स्तंभ हैं—**1. श्रमण, 2. श्रावक, 3. साहित्य, 4. पुरातत्त्व।** इनमें से पुरातत्त्व और साहित्य सर्वजीव हितार्थ ही समझना चाहिये।

साहित्य-सम्पदा हमारी बुद्धि, मन और चारित्र के साथ-साथ व्यक्तित्व को भी विराटता देने में मित्रवत् सहयोगी सिद्ध होता है। इस भारतीय साहित्य परंपरा के लिये वरदान रूप में सिद्ध हुये। सत्यार्थ-बोधादि 200 से अधिक ग्रन्थों के सृजेता शताब्दी देशनाचार्य पट्टाचार्य भगवन् गुरुवर 108 श्री विशुद्धसागर जी यतिराज। **पूज्यपाद गुरुदेव ने विपुल-विशुद्ध साहित्यों का सृजन करके भव्य जीवों के लिये सर्वश्रेष्ठ परोपकार किया है।**

गुरुदेव द्वारा रचित ग्रन्थराज सत्यार्थ-बोध एक अनुपम, अमर और अद्वितीय कृति है। जब मैं इस ग्रन्थ का प्राकृतानुवाद कर रहा था तब मन में एक भावना आयी कि—क्यों न इस ग्रन्थ से मंगल अर्थपूर्ण सुंदर सूक्तियाँ संग्रहीत की जाये। **मैंने यह भावना अनुज श्रमणरत्न सहजसागर की समक्ष रखी। सहजसागर जी ने इसे सहजता से स्वीकार ली और सत्यार्थ-बोध ग्रन्थराज से ''सत्यार्थ-सूत्र'' ग्रन्थ का संकलन किया।**

इस ''**सत्यार्थ-सूत्र**'' ग्रन्थ का पठन-पाठन सुधी पाठकों के लिये सत्यार्थ पथ का सोपान सिद्ध होगा। ऐसी मेरी मंगल भावना है।

॥ णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥

8/11/2024
संयम दिवस
कोटा, राजस्थान

विशुद्धपदाकांक्षी
श्रुतसंवेगी महाश्रमण आदित्यसागर

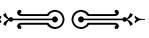

।। सहज-भावना ।।

संसार दुःखों का दलदल है। अज्ञानी जीव इसमें जितना हाथ-पैर चलाता है, उतना उसमें फंसता चला जाता है। दूसरी ओर ज्ञानी समता, धैर्य, आत्मीयता के साथ जागरुक होकर व्रत, तप, संयम को साथ लेकर एक साथ प्रयास करता है; ऐसा करने से वो संसार के दलदल से पार हो जाता है।

ऐसे ही संसारतारक जैन-संस्कृति जिनागम में प्राप्त स्वाध्याय का फल और अनुभवन की तत्त्वचर्चा से संप्राप्त आत्मानुभूति हम सबको सर्वज्ञ प्रणीत जिनवचन, गणधर देव से समुपलब्ध श्रुतज्ञान का प्रचार-प्रसार करने से आनन्द और सुख के बीजरूप अमृत की शृंखला, आचार्य-परमेष्ठी की दीक्षा-शिक्षा हम सभी को दुःखों एवं सर्वनाश से बचाने में समर्थवान् है।

हम जानते हुये भी अगर चीज़ों और क्रियाओं को न मानें तो यह हमारी मूर्खता के अलावा कुछ नहीं है। मंगलशरण भूत श्रमण संस्कृति को प्रापत करके हम श्रद्धाभिलाषी अपने आत्मकल्याण के लिये जिनवाणी का सत्यार्थ पठन-पाठन करें।

इसीलिये परमपूज्य शताब्दीदेशनाचार्य चर्याशिरोमणी पट्टाचार्य भगवान् गुरुवर विशुद्धसागर जी ने ''सत्यार्थ-बोध'' नामक अमर कृति का सृजन किया। यह एक महान् नीति ग्रन्थ है।

जीवन जीने की कला का प्रतिपादक है, स्वान्त भावों को समझने का दर्पण है, स्वात्मस्थ सुगंध को लेने की क्षमता देने वाला आत्मबोधक ग्रन्थ है।

यह बात मैंने सुनी या पढ़ी नहीं है, अपितु अनुभूत की है। इस ग्रन्थ को अमृत का घट भी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। **ज्ञानी इस ग्रन्थ के अवलोकन से चारित्र, ज्ञान, नीति, व्यवहारकुशलता, सम्यग्दर्शन, सामान्यज्ञान; जो चाहे प्राप्त कर सकता है।** यह ग्रन्थ दिखने में यद्यपि मोटा-सा प्रतीत हो सकता है, किन्तु पाठकजनों को अमृतपान से मोटा करे बिना नहीं छोड़ेगा। **यह ग्रन्थ सम्यक्त्व के बीजरूप–प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य आदि बहुमूल्य गुणों से भरा है तथा नये पाठकों के लिये रोचक ज्ञानवर्धक है।**

आचार्य भगवन् के इस ''**सत्यार्थ-बोध**'' ग्रन्थ के स्वाध्याय करते समय मेरे मन में इस ग्रन्थ से '**सत्यार्थ-सूत्र**' के चयन का भाव जाग्रत हुआ। **ममाग्रज श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी के प्रेरणा और गुरु-आशीष से मैंने यह कार्य प्रारंभ कर दिया** यद्यपि दिखने सरल यह कार्य कठिन था, मगर पूज्यों का आश्रय सभी कार्यों को सरल कर देता है।

यह 'सत्यार्थ-सूत्र' नामक कृति आप सभी पाठकगणों के लिये नवीन-चिंतन का सोपान सिद्ध होगी, ऐसी मेरी मंगल भावना है।

॥ इत्यलं ॥

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

रक्षाबंधन
संयमदिवस
कोटा, राजस्थान

सहजसुखाभिलाषी
श्रमण सहजसागर

1

सत्यार्थ-सूत्र

अहिंसा

1. विश्व-शान्ति प्रदायक धर्म **अहिंसा** है। विश्व-मैत्री का जनक **अहिंसा** है।
2. ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गुण **अहिंसा** में विद्यमान हैं।
3. **अहिंसा** धान्य की खेती है; शेष व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए बाड़ी हैं।
4. व्यवहार और परमार्थ धर्म **अहिंसा** के बल पर ही चलते हैं।
5. अशुभ-तरंगें अहिंसक को प्रभावित नहीं कर पातीं।
6. **अहिंसा परमब्रह्म** है।
7. चिद्ब्रह्म में लीन योगी परमब्रह्म अहिंसा को प्राप्त होता है; जहाँ घात्य-घातक भाव का भी अभाव हो जाता है।
8. सर्व-विद्याओं में श्रेष्ठ-विद्या **अहिंसा** है। जो इस विद्या को सिद्ध कर लेता है, उसके सम्पूर्ण विकारों का अभाव सहज ही हो जाता है।
9. यथार्थ में अकषाय-भाव का नाम ही **अहिंसा** है।
10. सबल-निर्बल सभी की रक्षक है **अहिंसा**।
11. स्व-पर की रक्षा का ब्रह्मास्त्र है **अहिंसा**।
12. अहिंसक स्व की भी रक्षा करता है और पर की भी।
13. दया-अदया भाव शून्य चिद्ब्रह्म की सहज अनुभूति परम विशुद्ध-भाव का नाम है; **परम अहिंसा**।
14. स्व-पर के द्रव्य प्राणों का वियोग नहीं करना **द्रव्य-अहिंसा** है और स्व के भावों में काषायिक भाव का उत्पन्न नहीं होने देना **भाव-अहिंसा** है। भाव-अहिंसा के अभाव में मात्र-द्रव्य अहिंसा परमब्रह्म का कारण नहीं है।
15. 'प्राणों का वियोग नहीं करना'–मात्र इतना धर्म अहिंसा नहीं है, अपितु किसी भी जीव के प्राणों के हरण के मन में विचार भी नहीं लाना **अहिंसा** है।
16. प्रत्येक जीव जीने का अधिकार रखता है, उसे जीने देना आपका कर्तव्य है।
17. मात्र अधिकार का ही नहीं, साथ में अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखो।
18. परम-धर्म अहिंसा दुर्बलों का धर्म नहीं, अपितु अहिंसा बलवानों का धर्म है।

19. जो अपनी कषाय से पराजित हो जाता है, वही हिंसा कर्म करता है।
20. श्रेष्ठ जन स्व-पर दोनों पर दया भाव रखते हैं।
21. अंतःकरण में किञ्चित् मात्र भी अशुभ संकल्पों-विकल्पों को उत्पन्न नहीं होने देना **भाव-अहिंसा** है।
22. भाव-अहिंसा का पालक ही यथार्थ में अहिंसक है और वही सुगति का पात्र है। मात्र द्रव्य-अहिंसाव्रत का पालक सुगति (सिद्धगति) को प्राप्त नहीं कर पाएगा।
23. दूसरों के अन्नपान में बाधा डालना, अङ्गों का छेदन-भेदन करना, वध-बंधन करना, बलिदान करना, द्रव्य-भाव प्राणों का वियोग करा देना, कर देना अथवा करने वाले की अनुमोदना—ये सब कार्य अहिंसा धर्म के विरुद्ध हैं अर्थात् **हिंसा-कर्म** हैं।
24. कोटि-कोटि यज्ञों अथवा सहस्रों तीर्थों की वन्दना के फल की अपेक्षा एक जीव के प्राणों की रक्षा करना अधिक अच्छा है।
25. यदि आप किसी को प्राण-दान देने में समर्थ नहीं हो, तो किसी के प्राण-हरण का अधिकार भी आपको नहीं है।
26. प्राणी-मात्र के प्रिय बनने के भाव हैं, तो मन-वचन-काय से प्राणियों की रक्षा करो।
27. परम सुख का भोक्ता वही होता है जो इन्द्रिय सुख तथा भोग के राग में त्रस-स्थावर जीवों का घात नहीं करता है।
28. मेरु से बड़ा स्कन्ध नहीं, आकाश से विशाल कोई द्रव्य नहीं, परमाणु से छोटा कोई द्रव्य नहीं, उसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं और हिंसा से तुच्छ-हीन कोई कार्य नहीं।
29. धान्य-घास खाकर अमृत (दुग्ध) देने वाले गाय-भैंसादि प्राणियों का घात करा देना यह उपकारी का उपकार नहीं, हिंसा है।
30. जो मानव, जीवन की आजीविका में तिर्यंच प्राणीयोंको सौंप रहे हैं। उन निरीह-मूक पशुओं की हत्या करा देना मानव की मानवता नहीं है। हे मानव! तेरे मानवता के नयनों में नीर आना चाहिए; हिंसा नहीं।
31. जीवन-दान देने वाले का जीवन ले लेना मानव-धर्म नहीं है।
32. प्रकृति ने पृथ्वी पर सबको जीने का अधिकार दिया है, चाहे नर हो, पशु हो। अहो नर! पर के अधिकारों का हनन करना तेरा कर्तव्य नहीं, अपितु दूसरों के अधिकारों को हनन करना हिंसा है।
33. मत करो व्यर्थ में वनस्पति का घात, यह तो पृथ्वी की सुन्दरता का आभूषण है।

वसुधा के आभूषण छीनोगे तो पृथ्वी माँ सहन नहीं कर पाएगी और फिर भूचाल होगा, सुनामी जैसे उपद्रव होंगे और प्राणियों को बिलखना पड़ेगा।

34. करुणा, दया, अनुकम्पा सब **अहिंसा के अंग** हैं।
35. अहिंसा के अभाव में न करुणा, न दया, न अनुकम्पा।
36. दया से विशुद्ध, धर्म के अभाव में जाप-अनुष्ठान, पूजा-विधान सब व्यर्थ ही जानो।
37. जहाँ जीवों का संहार हो वहाँ धर्म नहीं है। ''यदि पर प्राणों के हरण-प्रताड़न से धर्म जाना जाएगा, तो फिर अधर्म की परिभाषा क्या होगी?''
38. अपने विवेक को जाग्रत करने की आवश्यकता है। नरमेध, अश्वमेध, गोमेध यज्ञ का अर्थ यह नहीं है कि आप प्राणियों को कुण्ड में आहूत कर दो।
39. नरमेध का तात्पर्य है कि मानव अपनी मानवता को सुरक्षित रख कर जो अंतरंग में असुरी-वृत्ति है उसको छोड़े।
40. गोमेध का अर्थ गौ (गाय) का घात नहीं है, अपितु गौ से तात्पर्य गौ अर्थात् गमन। जो पाप प्रवृत्ति में गमन हो रहा है उसका अभाव करो, यह गोमेध का अर्थ है।
41. अश्व का अर्थ घोड़ा है, तो क्या घोड़े का घात करना अश्वमेध है? नहीं। अश्व की भाँति चित्त की द्रुतगति है, उसे रोकना अश्वमेध है।
42. महिष की बलि का अर्थ भैंसे को मारना नहीं, विशालकाय प्राणियों का रक्तास्रव कराना नहीं, अपितु महिष प्रमाद का प्रतीक है, इसलिए अपने प्रमाद-आलस्य का विसर्जन करना है।
43. विश्व में शान्ति और आनन्द का संदेश देना है, तो अहिंसा के माध्यम से ही दिया जा सकता है, अन्य कोई मार्ग विश्वशान्ति का नहीं है। टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-भाव में प्रविष्ट पुरुष एकमात्र चैतन्य भगवान्-आत्मा का आलम्बन लेता है।
44. वहाँ बहिरंग संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव है, जहाँ साम्यभाव से युक्त आत्मशान्ति से सम्पन्न परमार्थ से अहिंसा-धर्म है।
45. निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी चारों ही प्रकार की हिंसा का त्याग करते हैं।
46. गृहस्थ देशव्रती एकमात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है तथा व्यर्थ में अन्य हिंसा भी नहीं करता है।

2

सत्यार्थ-सूत्र

सत्यता

1. वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करना, विपरीत, हीनाधिक कथन नहीं करना तथा प्रशस्त साधु-वचनों का बोलना **सत्यधर्म** है। सत्य का अपमान किया जा सकता है, परन्तु फिर भी सत्य-सत्य ही रहता है।
2. सत्य कभी भी अपमानित नहीं होता है, अपितु जो सत्य का अपमान करते हैं वे ही लोक में अपमान को प्राप्त हो जाते हैं।
3. धर्मात्मा को सत्य-वचन, प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं। प्रभावी-जन मितभाषी होते हैं, क्योंकि बहुप्रलाप प्रभुत्व-शक्ति का अभाव कर देता है।
4. जो भाषण स्वयं के लिए मधुर नहीं लगता वह अन्य के लिए भी प्रयोग न करें।
5. सज्जन व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष अल्प, गम्भीर, अर्थ-प्रधान, विनय-मिश्रित वचनों का ही प्रयोग करते हैं।
6. महाजन स्व-मुख से न तो कभी दूसरों की निन्दा करते हैं और न ही स्वयं की प्रशंसा करते हैं।
7. वे ही मुख-कमल हैं; जो गुणीजनों के गुण-कीर्तन से सुवासित हैं, उन मुख-कमलों पर साधुजन भ्रमर की भाँति भ्रमण करते हैं।
8. **असत्य-भाषी** विश्व का अविश्वासी होता है, स्व-परिजन भी उस पर विश्वास नहीं करते, फिर अन्य की क्या कहें?
9. हितकारी, मृदु, मधुर, गंभीर, विश्व-बंधुत्व के कारणभूत वचनों का प्रयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व का ज्ञापक है।
10. असत्य-भाषण करने वाले कभी भी आत्म-शक्ति को प्राप्त नहीं होते, भाव-विशुद्धि तो उनके निकट कभी नहीं आती।
11. असत्य-भाषी का सर्वत्र अपमान होता है, वह स्वयं ही स्व-यश का घात करता है।

12. मृषा-भाषी (झूठा) साधुजनों में निम्न स्थान पाता है।
13. असत्य-भाषण करने वाले लोग काम साधने के लिए बहुत मीठा-अपनापन दिखाते हैं, परन्तु समय पाकर वे असत्य-भाषी दगा दे जाते हैं।
14. साधु-पुरुषों के वचन हित-मित-प्रिय तथा धर्म-यश वृद्धि के कारण होते हैं।
15. ज्ञानीजन, प्राणों से भी प्रिय **सत्य** को स्वीकार करते हैं।
16. प्राण तो अनेक भवों में अनेक बार प्राप्त हुए हैं, होते रहेंगे, परन्तु सत्य बार-बार प्राप्त नहीं होता है।
17. एक भव में ही जीव मन-वचन-काय से सत्य को स्वीकार ले, तो जन्म-जरा-मृत्यु का क्षय हो जाए।
18. वे साधु-पुरुष धन्य हैं जो सत्यार्थ-धर्मामृत का पान करते हैं तथा अन्य जनों को कराते हैं।
19. मधुर भाषण से दरिद्री-जनों के पास वास करने की अपेक्षा वन-खण्ड का वास श्रेष्ठ है।
20. सत्य-वचन, सत्य-जीवन स्वयं में ही उच्चता के शिखर का जीवन है। इसके लिए पर की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है।
21. जो गुण स्वयं में नहीं, फिर भी स्वयं को उन गुणों से युक्त स्वीकारना, यह **असत्य वाक्-वृत्ति का जीवन है**।
22. गुणीजनों के गुणों को नहीं स्वीकारना यह असत्य मन का विकल्प है और यही विकल्प गुणहीन बना देता है।
23. जिनके वचन सद्गुणों के कीर्तन में लगते हैं, मात्र उनका ही वचन-बल सम्यक्-सार्थक है।
24. जो पुरुष आगमानुकूल सत्य भाषण करते हैं, उन्हें वचन-सिद्धि हो जाती है।
25. यदि आप अपनी बात सुनाना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम स्वयं दूसरे की बात को ध्यान से सुनना होगा।
26. जो भाषण दूसरों को कष्ट-प्रद हो, पर-निन्दापरक, हिंसा-युक्त, कर्कश हो, ऐसे भाषण का पूर्ण त्याग करें। ये सब वचन असत्य की कोटी में आने वाले हैं।
27. ज्ञानी-जन वे ही वचन बोलते हैं, वे ही वचन सुनते हैं, उन्हीं वचनों की अनुमोदना करते हैं जिन वचनों में आत्महित निहित हो।

28. वही वार्ता तत्त्वचर्चा है जिसमें विसंवाद नहीं, विसंवाद से विशुद्धि का विनाश होता है।
29. विशुद्धि के अभाव में संसार-वृद्धि होती है।
30. तत्त्ववार्ता संसार-वृद्धि के लिए नहीं, अपितु संसार-हानि के लिए होती है।
31. कर्कश शब्दों का घाव बाण से भी अधिक कष्टप्रद होता है।
32. बाण मात्र शरीर को विदीर्ण करता है, परन्तु वाणी की तीक्ष्णता अंतःकरण को विदीर्ण कर देती है।
33. मधुर-भाषण से काले नाग को भी वश कर लिया जाता है; यह विश्व को स्ववश करने की विद्या है—मधुर-प्रिय-मित-हितकारी भाषण।
34. अहंकार-ममकार की भाषा से व्यक्ति साधु-पुरुषों से दूर चला जाता है।
35. सरिता का शीतल जल प्राणिमात्र के लिए शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार सज्जनों के संस्कारित-वचन प्राणिमात्र के लिए शीतलता प्रदान करते हैं।
36. वाणी में कटुता का विष न हो, मैत्री का अमृत हो, जो सर्वजनप्रिय होता है।
37. सर्व-हित-वांछक पंथ-संप्रदायों से भिन्न होकर प्राणिमात्र के लिए विश्वबन्धुता का सदुपदेश देता है।
38. जिसकी भाषा ही कटुतापूर्ण है; उसके भावों की दशा कितनी कटु होगी?
39. शब्दों का प्रयोग भी साधुतापूर्ण होना चाहिए। साधु-भेष मात्र से साधुता की पहचान नहीं है, भाषा और भाव में साधुता है तो साधु-भेष बनाना भी श्रेष्ठ है।
40. श्रेष्ठ पद के अनुकूल भाषा भी श्रेष्ठता से संस्कारित होना चाहिए।
41. अज्ञ प्राणी धर्म, समाज, संस्कृति की सेवा करते हुए भी उज्ज्वल, विवेकपूर्ण-वाणी के अभाव में सम्मान को प्राप्त नहीं होते।
42. पर-प्राणी पीड़ाकारक शब्द भी सज्जन लोग नहीं बोलते, क्योंकि उन्हें बोध होता है कि शब्द का घाव बहुत गहरा होता है जो सीधा अन्तःकरण में होता है।
43. ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मत करो जिससे परस्पर में प्रीति का वियोग हो जाए तथा वैर का संयोग हो जाए।
44. धन्य वे साधक जिनके वचन अमृत से भी अधिक मीठे, चन्द्रमा की चाँदनी से अधिक शीतल हैं; वे ही धरती पर मैत्री-भाव स्थापक हैं।
45. यदि आप सत्य-सम्पत्ति की रक्षा चाहते हैं, तो सम्पूर्ण साधनाओं में श्रेष्ठ साधना मौनव्रत का निर्दोष पालन करो।

46. आत्मसाधक व्यर्थ के वचनालाप से आत्मरक्षा करता है।
47. वचनों का संयम रखना साधक का अनिवार्य अङ्ग है, क्योंकि लोक में बड़े-बड़े अनर्थ वाणी-असंयम से ही हुए हैं।
48. जिसकी वाणी में स्याद्वाद विराजमान है, उसकी वाणी ही जगत् में स्व-पर कल्याणी है।
49. स्याद्वाद-शून्य वचन अस्त्र से भी अधिक घातक होते हैं।

3

सत्यार्थ-सूत्र

अचौर्य

1. किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई, पर-वस्तु को बिना आज्ञा के ग्रहण कर लेना, अन्य को करा देना तथा परकीय अदत्त वस्तु के प्रयोग करने की अनुमोदना करना चोरी है। जो ऐसा नहीं करता, वह **अचौर्य व्रती** है।
2. जगति पर पर-स्वामित्व के स्वर्ण, हीरा, वज्र, रत्न आदि द्रव्यों को बिना आज्ञा के स्वीकार नहीं करना **अचौर्य** है।
3. व्यक्ति को स्व-धन प्राणों जैसा प्रिय होता है। जो पर-धन का हरण करता है वह उसके प्राणों का ही हरण करता है।
4. जहाँ चोरी होगी वहाँ हिंसा अवश्यम्भावी होती है, वह हिंसा द्वैत रूप होती है।
5. धन पुरुषों के लिए ग्यारहवाँ प्राण है, **जो धन-हरण है वह उसका प्राण-हरण है।**
6. दूसरी दृष्टि से देखें तो चोर धन के राग में धनवान की हिंसा कर देता है अथवा कभी धनिक द्वारा पकड़ा जाने पर चोर की हिंसा होते देखी जाती है, इसलिए साधुजनों को चोरी-पाप से आत्मरक्षा प्रतिक्षण करना चाहिए।
7. धन-हरण ही चोरी नहीं है, जो भी वस्तु परकीय स्वामित्व युक्त है, उसको उसकी अनुमति के बिना ग्रहण करना भी चोरी है।
8. लोभ-कषाय, परिग्रह संज्ञा के वश हुआ प्राणी चोरी जैसे हीन-कर्म करने को तैयार हो जाता है।
9. परम तत्त्व का निर्णय तभी होगा, जब जीव अस्तेय धर्म का पालन करेगा।
10. तस्कर-भाव न स्व को शान्ति देते हैं, न पर को।
11. जब परिणामों में शान्ति का अभाव है, तब तत्त्व-निर्णय कैसा?
12. अपने समय पर स्व-कार्य न करना भी समय की चोरी है।
13. जैसे स्वधन आपको प्रिय है उसी प्रकार से अन्य जनों को भी स्वधन प्रिय है, इसलिए किसी के प्रीतिभूत धन का हरण, प्राण-हरण के तुल्य है।

14. धर्मात्मा-पुरुष धर्मात्मा के मध्य कभी भी विसंवाद नहीं करते, तभी **निर्दोष-अचौर्य व्रत** होता है।
15. स्व-भावों की विशुद्धि का घातक भी चोर है।
16. अचौर्य व्रत पालक प्रतिक्षण प्रसन्न रहता है; उसके अन्तःकरण में चौर्य-कृत्य संक्लेशता का विष नहीं रहता है।
17. पर-वस्तु का हरणकर्ता अंतरंग-बहिरंग संक्लेशता की अग्नि में झुलसता रहता है।
18. चोर पूर्ण आयु को नहीं भोग पाता, या तो पर अस्त्रों-शस्त्रों से मृत्यु को प्राप्त होता है या संक्लेशता से अकाल-मरण को प्राप्त होता है।
19. तस्कर की आत्मा से 'निर्भय' शब्द तो समाप्त ही हो जाता है, चोर प्रतिक्षण भय-ग्रस्त रहता है।
20. चोर का जीवन जगत् की प्रीति से शून्य व शुष्क बन जाता है।
21. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ही पुरुषार्थों में तस्कर शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है।
22. चोर को देखकर स्व-बंधु भी उसे श्वान सा देखते हैं, चोर किसी का प्रिय नहीं होता है।
23. साधुजन भी चोर से सावधानी रखते हैं। धन का अभाव होने पर भी सावधानी रखने का कारण अपयश की आशंका है; तस्कर के साथ रहने से लोकापवाद हो सकता है।
25. ज्ञानीजनों का सहवास ज्ञानीजनों के ही मध्य होता है।
26. अस्तेय व्रतधारक साधर्मी जनों से विसंवाद-भाव को प्राप्त नहीं होता, प्रत्येक धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य भाव बनाकर चलता है।
27. अचौर्य व्रत पालक, धर्मात्मा के प्रति, विरोध-भाव का त्याग कर देता है, सभी के लिए स्थानदान करता है, स्व-स्थान से किसी को पतित करने के भाव नहीं लाता है।
28. अणुव्रती-महाव्रती पर के द्वारा की गई चोरी की वस्तु का प्रयोग भी नहीं करता जो परकृत चोरी की वस्तु का प्रयोग कर लेता है उसके अचौर्यव्रत में दोष हैं।
29. साधु-पुरुष राज्य के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, शासन की आज्ञा, जो नीति-न्याय युक्त हो, उसका प्राणपन से पालन करते हैं।

30. राजा का कर्तव्य है प्रजा से कर ले, वृक्ष के फलवत। जैसे कृषक वृक्ष से फल ही लेता है परन्तु जड़मूल से वृक्ष का विघात नहीं करता, क्योंकि आगामी फल भी उसी वृक्ष पर आएँगे, उसी प्रकार से राजा प्रजा से कर तो ले, परन्तु प्रजा का सर्व-हरण न करे।
31. यदि राजा बिना कारण प्रजा का सर्व-हरण करता है, तो वह भी **चोर** है।
32. लेन-देन के मापदण्ड न हीन हों और न अधिक हों, इस प्रकार की वृत्ति जो करता है उसके **अचौर्य व्रत** पलता है।
33. जो पुरुष मान-उन्मान में हीन-अधिकता रखता है वह निर्दोष **अचौर्य व्रत** पालक नहीं है। जिन-शासन कर्मदण्ड की क्रिया से वह अपने को सुरक्षित नहीं रख सकता है।
34. जो वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त है उसका उपयोग उसी कार्य में करना चाहिए, इस विधि का जो पालन नहीं करता है,वह कारण-कार्य विपर्यास कर रहा है।
35. जो भाव मोक्षमार्ग में कारण हैं 'साधक' के लिए उन्हीं भावों पर स्थिर होने का सतत पुरुषार्थ करना चाहिए।
36. यदि साधक साधु-भेष में असाधु भावों की अनुभूति लेता है तो वह साधु भावों की तस्करी कर रहा है, स्व के साधु भावों का विघातक है, दीर्घसंसारी है।
37. स्व-संयम में उत्साह के साथ पूर्णरूप से स्थापित रहना साधक का **अचौर्यव्रत** है।
38. स्वगुणस्थान से पतित होकर भी गुणस्थान-जन्य पूजा को प्राप्त करना तथा श्रेष्ठ साधकों से स्व की विनय करवाना चोरी ही है।
39. अचौर्यव्रत का धारी माया-कषाय से दूषित चित्त-युक्त नर, कुमरण को प्राप्त होता है।
40. परकीय पदार्थ को स्व कहकर प्रचार करना, सुन्दर दिखाकर असुन्दर वस्तु देना अचौर्यव्रत का दूषण है।
41. सज्जन पुरुष अपने कर्तव्य-पालन में उत्साहित होते हैं, जो लोग स्व-कर्तव्य में उत्साह-हीन जीवन जीते हैं, वे श्रेष्ठ कर्तव्य कार्य की चोरी करते हैं।
42. यदि कोई भिन्न व्यक्ति अपना कार्य या क्रिया को आपको नहीं दिखाना चाहता, तो उसे देखने की चेष्टा मत करो, यदि फिर भी छुपकर आप देखते हैं तो वह चोरी है, उसके भावों की हिंसा है।

43. परकीय वस्तु को बिना पूछे ग्रहण करना तो चोरी है, पर इतनी ही सीमा चोरी की नहीं समझना, परकीय गुप्त बात को छुपकर सुनना भी चोरी है।

44. दूसरों की गुप्त बातों को छुपकर सुनने से स्व-परिणाम और पर-परिणामों में क्लेश का संचार होता है, विशुद्धि का नाश होता है, लोक में व्यक्त करने पर महाहिंसा रूप युद्ध भी सम्भव है, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति अनास्था भाव जाग्रत होता है।

4

सत्यार्थ-सूत्र

ब्रह्मचर्य

1. ब्रह्माण्ड में यदि आत्मबल, देहबल-वर्धक कोई परम-औषधि है तो उसका नाम है **'ब्रह्मचर्य-धर्म'**।
2. कामशक्ति को क्षीण कर, ब्रह्मभाव में लीन रहकर गुरु-आश्रम में निवास करना **ब्रह्मचर्य** है।
3. लोक में सम्पूर्ण व्रतों का राजा यदि कोई व्रत है, तो वह **ब्रह्मचर्य व्रत** है। ब्रह्मचर्य व्रत के अभाव में सम्पूर्ण व्रत थोथे हैं, गंधहीन पुष्पवत्।
4. ब्रह्मचर्य व्रत अंक, शेष व्रत अंक-हीन शून्य हैं। शून्य-शून्य ही रहता है, अर्थवान् कोई है, तो वह अंक है।
5. यदि अंक पर शून्य आते हैं तो अंकों की कीमत वृद्धिमान हो जाती है, उसी प्रकार व्रतों में अंक स्थान पर **ब्रह्मचर्य व्रत** है। ब्रह्मचर्य व्रत के साथ शेष व्रत शोभायमान होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव में अन्य व्रत अंक-रिक्त शून्य समझो।
6. **ब्रह्मरक्षा आत्म-रक्षा है।**
7. जिन स्थानों पर दृष्टि जाने से काम-दाह उत्पन्न होती है, उन स्थानों से दृष्टि को पृथक् कीजिए।
8. दृष्टि के अब्रह्म पर जिसका नियंत्रण है उसका मन ब्रह्ममय स्वतः हो जाता है।
9. जो अब्रह्म में रुचि रखते हैं उन्हें ही अब्रह्म-भाव पीड़ित करता है।
10. जिनकी अब्रह्म में रुचि ही नहीं उन वीतरागियों को जगत् की कोई भी शक्ति ब्रह्म-भाव से च्युत करने में समर्थ नहीं है, ऐसा निश्चित मानो।
11. सम्पूर्ण-विश्व को स्व के प्रति आकर्षण की परम विद्या **ब्रह्मचर्य** है, शील-दृढ़ के श्रीचरणों में देव भी आकर शीश झुकाते हैं।
12. ब्रह्मचर्य पालने हेतु मनशुद्धि अनिवार्य है। मन विचारों के बल पर जीवित रहता है।

13. अब्रह्म की उत्पत्ति मन में होती है, तन से अब्रह्म का सेवन बहुत कम होता है।
14. व्यक्ति सर्वाधिक मानसिक-मैथुन करता है, मानसिक मैथुन की तीव्रता ही काय-प्रवीचार में ले जाती है।
15. मानसिक मैथुन मानसिक रोग उत्पन्न कर देता है। उन्माद, पागलपन, ताप, भूख-प्यास न लगना, चिड़चिड़ापन, लम्बी श्वासें, शरीर-कंपन, मृत्यु आदि अवस्थाएँ तीव्र कामी-पुरुष की होती हैं।
16. यह जीव समस्त-योग धारण कर ले, अनशनादि घोर तप तपे, आचार्य संघ की सेवा करे, विनय-वृत्ति धारण करे, समस्त आगम को धारण कर ले और फिर भी यदि अंतरंग में विषयाभिलाषा है, अब्रह्म परिणाम है तो उपरोक्त सम्पूर्ण क्रियाएँ अकार्यकारी हैं।
17. **व्रतों में ब्रह्मचर्य, मणियों में पारसमणि, रत्नों में हीरा, धातु में सोना, वनस्पति में मलयगिरि चंदन, धर्म में अहिंसा धर्म त्रैलोक्य प्रसिद्ध है।**
18. साधु-पुरुष प्राण-वियोग स्वीकार लेते हैं प्रसन्नता के साथ, परन्तु पर-नारी को रत्नजड़ित होने पर भी नहीं स्वीकारते।
19. शीलवान की दरिद्रता भी भूषण हैं, कुशील का सम्पूर्ण वैभव मात्र पुण्य का मल है।
20. निर्दोष शील के योग से अग्नि भी शीतल-जल, विष भी अमृत, शूली भी सिंहासन, शत्रु भी मित्र और अशुभ कर्म भी शुभरूप हो जाते हैं।
21. पर-स्त्री लम्पटी इस लोक में अपयश और परलोक में दुर्गति का पात्र होता है।
22. **''यशवान नर''** प्राण-हरण करा सकते हैं, सम्पत्ति विनाश देख सकते हैं, परन्तु पर-स्त्री का चित्र भी राग से नहीं देखते।
23. जो व्यक्ति स्व-वीर्य का क्षरण करता है, वह स्व-जीवन का घातक है।
24. वीर्य शरीर की अंतिम धातु है; जो तेज, बुद्धि-बल प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ-विचार को जन्म देने वाला वीर्य होता है।
25. वीर्य-हीन शरीर निस्तेज, प्रमादपूर्ण, आलस्यपूर्ण, रुग्ण, रक्त-दोषता, मुख-शरीर पर फोड़े-फुन्सी युक्त होता है तथा श्रेष्ठ-जनों के मध्य हीनता-दीनता सम्पन्न होता है।
26. वीर्य सम्पन्न शरीर तेजवान, सुगन्धवान, सरसता, सुभगता, नेत्र में विशिष्ट ज्योति-सम्पन्नता से युक्त होता है, उससे सम्पूर्ण-लोक आकर्षित होते हैं।

27. विषयासक्त जीव विवेक-शून्य हो जाता है। वह जाति, कुल, धर्म, कीर्ति, विज्ञान, विभूति, सत्य-शुचिता का क्षय कर लेता है।
28. कामी का आनन्द-रिक्त जीवन प्रारम्भ हो जाता है।
29. यदि इह-लोक में सत्कार, पर-लोक में परम-सुख की कामना है, तो स्व के शील का निर्दोष पालन करो।
30. स्वयं का चारित्र निर्मल है तो आप ही यश, कल्याण, पुरस्कार प्राप्त करोगे।
31. धन्य-धन्य-धन्य हैं वे मानव, जिन्होंने अपने कुमार-व्रत को नष्ट नहीं होने दिया।
32. सौधर्म-इन्द्र से भी बड़े वे लोग हैं जो प्रवीचारों से शून्य हैं।
33. शील रक्षा के लिए इष्ट-गरिष्ठ भोजन, स्त्रियों की राग भरी कथा, उनके मनोहर अङ्गों का अवलोकन, पूर्व भोग-स्मरण का त्याग अनिवार्य है।
34. जो शीलाभूषण से शोभायमान है उसके लिए अन्य आभूषणों की कोई आवश्यकता नहीं है।
35. आत्म-ब्रह्म में वही प्रवेश कर पाता है, जो ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ता से करता है।
36. जिसका ब्रह्मचर्य दृढ़ नहीं उसके चित्त में चंचलता प्रतिक्षण रहती है।
37. चंचल चित्तवान को ब्रह्मधर्म में प्रवेश की बात करें तो वह कच्छप-पीठ पर बाल-अंकुरण तुल्य है। ब्रह्मभाव स्वरूप-लीनता, परम ब्रह्मलीन योगी आत्मस्थ हो जाता है।
38. शरीर-चेष्टा जन्य अब्रह्म का जहाँ कोई विकल्प ही नहीं, वहीं **परमार्थ ब्रह्मचर्य** है।
39. जगत् से शून्य स्व में अशून्य भाव **ब्रह्मचर्य-भाव** है।
40. स्वात्म-प्रदेशों में पर-पदार्थों का असत् देखो, स्व से भिन्न द्रव्य मेरे में न पूर्व में थे, न वर्तमान में हैं, न भविष्य में होंगे। स्वात्मसुख तो स्व में था, स्व में ही है, स्व में ही रहेगा।
41. चिद्-ब्रह्मभाव परम-भाव है, ऐसा स्वानुमुखी भाव जहाँ है, वहीं **ब्रह्मचर्य-भाव** है।
42. निज चैतन्य भाव से पृथक् दृष्टि ले जाना अब्रह्म-भाव है, कुशील-परिणाम है।
43. जगत् पूज्यता के भाव बनाने से जगत् पूज्य नहीं हुआ जाता, त्रैलोक्य-पूज्य स्व-ब्रह्म पर जो प्रतिष्ठित है, वह जगत् में पूजा जाता है।
44. सम्पर्क, आलाप, प्रीति, विश्वास, परिणय पाँच बिन्दु अब्रह्म-लीनता के हैं।

45. सर्वप्रथम व्यक्ति परस्पर में सम्पर्क बढ़ाता है, फिर वचनालाप करता है, वचनालाप से प्रीति बढ़ती है, प्रीति से विश्वास, विश्वास हुआ कि-परिणय अर्थात् अब्रह्म सेवन, इसलिए ब्रह्म-भाव रक्षा के लिए विषमलिङ्ग एवं समलिङ्ग से संपर्क ही नहीं रखना चाहिए।
46. शरीर और आयु की रक्षा के लिए दो वस्तुओं की रक्षा करना अनिवार्य अंग है, उदरस्थ-अग्नि और वीर्य। इन दो के बल पर ही शरीर स्वस्थ रहता है।
47. सज्जन मात्र सन्तान उत्पत्ति के लिए काम-पुरुषार्थ का सेवन करता है, न कि देह और धर्म-नाश के लिए।
48. सन्तान से सनातन धर्म वर्धमान होता है, इसलिए काम-सेवन यदि करना ही है, अपने आपको वश नहीं कर पा रहे तो शरीर का प्राण-वीर्य उसे व्यर्थ में नष्ट करके धरती पर भार नहीं बनो, सन्तान को जन्म दो।
49. जो विद्यार्थी जीवन में स्व वीर्य की पूर्ण रक्षा करता है, किसी भी प्रकार से आत्म-वीर्य का नाश नहीं करता, उसे सरस्वती की सिद्धि हो जाती है।
50. वीर्य रक्षा से मस्तिष्क की रक्षा होती है, उससे मेधा-शक्ति की वृद्धि होती है।
51. ब्रह्मचर्य रक्षा हेतु मात्र मनुष्यनी से ही दूर नहीं रहना, अपितु स्त्रीवाची शब्द से भी आत्मरक्षा करना है।
52. चार प्रकार की स्त्रियों से अब्रह्म होता है, उन चारों से दूर रहना चाहिए— मनुष्यनी, तिर्यंचनी, देवी, अचेतन स्त्री।
53. स्त्री की प्रतिमा चाहे वह काष्ठ प्रतिमा हो, वस्त्र या लेप प्रतिमा हो, मिट्टी से निर्मित स्त्री, पुत्तलिका, पाषाण की प्रतिमा, फोटो आदि के अवलोकन से अब्रह्म भाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए सम्पूर्ण स्त्री-आकृतियों से ब्रह्मचारी को आत्म-रक्षा करनी चाहिए।
54. अप्राकृतिक रूप से जो अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं वे स्व और धर्म-संस्कृति के शत्रु हैं।
55. जो प्राकृतिक मैथुन करते हैं, परन्तु औषधि आदि के माध्यम से सन्तान को जन्म नहीं लेने देते, वे भी घोर-पापी, धर्म-संस्कृति के शत्रु हैं।
56. तीव्र कामेच्छा भी **अब्रह्म-भाव** है।
57. भोग भोगने वाला तो पाप-बंध को प्राप्त होता ही है, परन्तु भोग-भावना रखने वाला भी पाप-बंध को प्राप्त होता है, इसलिए काम-इच्छा का भी त्याग करो।

5

सत्यार्थ-बोध

अपरिग्रह

1. पर-पदार्थों के प्रति ममत्व-परिणामों का होना **परिग्रह** है।
2. जहाँ-जहाँ इच्छा है, वहाँ-वहाँ परिग्रह है, चाहे पदार्थ पर अधिकार हो अथवा न हो, पर-ममत्व है तो **परिग्रह** है।
3. वस्तु परिग्रह नहीं है, ममत्व परिग्रह है, तो फिर वस्तु त्याग करने को क्यों कहा जाता है? यदि ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसे उत्तर समझाना चाहिए कि—परिग्रह तो ममत्व ही है, परन्तु जैसे अग्नि ईंधन के आश्रित जलती है, बिना ईंधन के अग्नि का अस्तित्व नहीं दिखता, फिर भी ईंधन अग्नि नहीं होता, दोनों स्वतंत्र हैं। उसी प्रकार से ममत्व चैतन्य का विकार है, पर-वस्तु का नहीं, फिर भी ममत्व अवस्तु में नहीं होता, वस्तु में ही होता है।
4. जहाँ-जहाँ अनिच्छा, निर्ममत्व भाव है वहाँ-वहाँ पर-वस्तु के ग्रहण के परिणामों का अभाव है, जहाँ पर-इच्छा, पर-वस्तु दोनों का अभाव है, वहाँ **अपरिग्रह-भाव** है।
5. परम सुख-शान्ति का हेतु **आकिञ्चन्य-भाव** है।
6. पर-भावों से भिन्न जीवन जीने वाला साधु-पुरुष स्वयं को परमात्मा बना लेता है।
7. जो भी परमात्म-पद को प्राप्त हुए हैं, वे सब अपरिग्रह-भाव से हुए हैं।
8. चिन्ता से शून्य, चैतन्य की अनुभूति, अपरिग्रह स्वभावी के ही सम्भव है।
9. चैतन्यानुभूति आनन्द के बिना कोई भी प्राणी परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सकता।
10. भूतार्थबोध होने पर परिग्रह का प्रेत स्वयमेव विलीन हो जाता है।
11. जब तक भूतार्थ-बोध मंत्र की अनुपलब्धि है जीव को, तभी तक परिग्रह प्रेत पेरता है।

12. सम्यक्-तत्त्व का ज्ञान जीव को महान् बनाता है, पर-पदार्थ के ममत्व का मद आत्मा से दूर कर देता है।
13. परिग्रह का राग आत्मदेव पर, कर्मों की रज आच्छादित कर देता है, साधुजन इस रहस्य का अधिगम कर परिग्रह के ममत्व से निज को पृथक् कर लेते हैं।
14. इच्छाएँ असीम हैं। आकाश छोटा हो जाए, परन्तु मानव की इच्छाएँ छोटी नहीं होतीं।
15. लोभ-कषाय और परिग्रह-संज्ञा के वश होकर जीव अनेक प्रकार के व्यापार कर पाप का संग्रह कर दुर्गति का पात्र बनता है।
16. जितनी द्रव्य की जीवन में आवश्यकता नहीं पड़ती, उससे अधिक व्यक्ति द्रव्य का अर्जन करता है, फिर रक्षण और संवर्धन के राग में अपने प्राणों का ही अन्त कर लेता है।
17. एक-इन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक परिग्रह-संज्ञा से ग्रसित हैं, स्व-कल्याण का उन्हें भान ही नहीं है।
18. मदिरा का उन्मत्त व्यक्ति अल्प समय में स्वस्थ हो सकता है, परन्तु परिग्रह के मद से उन्मत्त-पुरुष भवों-भवों में स्वस्थ नहीं हो पाता।
19. परिग्रही-पुरुष न शान्ति की नींद ले पाता, न शान्ति से भोजन कर पाता, स्वतंत्र होकर पथ में विचरण भी नहीं कर पाता, चिन्ता-भय दिन-रात के उसके मित्र बन जाते हैं।
20. पर-भावों का ममत्व आत्म-विशुद्धि का घात करने में समर्थ कारण हैं।
21. मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे पर-भावों से आत्मरक्षा, पूर्ण आत्म-जाग्रति के साथ करें।
22. साधु-असाधु दोनों ही परिग्रह से प्रभावित हो जाते हैं, ऐसी मिठाई परिग्रह है।
23. परिग्रह से सुरक्षित रहने के लिए निस्पृह भाव का कवच धारण करना होगा।
24. परिग्रह की ममता ने अनेकों जीवों की समता का विघात कर उन्हें क्रूर-हिंसक बना दिया।
25. सत्यार्थ-जीवन जीना है, तो परिग्रह से पूर्ण पृथक् जीवन जिओ।
26. भेद-विज्ञान की कला **निर्ममत्व-भाव** है।
27. सम्यक्-अर्थ का बोध तभी जाग्रत होता है जब जीव सम्पूर्ण परिग्रह के भार को स्व-परिणामों से निकाल देता है।

28. परिग्रह-संचय के भावों में भगवान् की सत्यार्थ-वाणी स्थापित नहीं होती।
29. लोभी और परिग्रह-संज्ञी आगमानुकूल भाषण करने में भयभीत होता है।
30. अति-संग्रह, अति-ममत्व दोनों प्राणी की चिन्ता के कारण हैं, आत्मसुख के घातक हैं।
31. जो आत्मा का निराकुल-सुख है उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है, जब जीव ममत्व-भाव और संग्रह-वृत्ति से आत्मरक्षा करेगा।
32. परिग्रहवान वर्तमान में निसंगता के आनन्द से रिक्त रहता है, भावी पर्याय में नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है।
33. दुःख का कारण परिग्रह-संचय में होने वाला आर्त-रौद्रध्यान तथा संकल्प-विकल्प परिणाम समझना।
34. **निसंगता** निर्ग्रन्थता की ओर ले जाती है, बिना निसंगता के जीव निर्ग्रन्थ नहीं बन सकता।
35. ध्यान-साधना को भङ्ग करने का प्रबल हेतु **परिग्रह है**। चित्त को पताका की तरह चलायमान कर देता है।
36. जैसे वायु ध्वजा की स्थिरता का घात करती है, वैसे ही परिग्रह ध्याता के ध्यान का घात करता है।
37. परम-ध्यान की सिद्धि चाहिए, तो परिग्रह से पूर्ण निसंग, विरक्त होकर जिओ।
38. दुर्ध्यान के लिए स्तंभ है परिग्रह। जैसे लता के वर्धमान होने के लिए स्तंभ आश्रय की आवश्यकता होती है, बेल आश्रय पाकर वृद्धिमान होती है, उसी प्रकार खोटे ध्यान परिग्रह का आश्रय पाकर वृद्धिमान होते हैं।
39. अशुभ-ध्यानों से आत्मदेव की रक्षा के भाव हैं, तो परिग्रह से ममत्व का त्याग करो।
40. परिग्रह के कारण विश्व में हिंसा-वृत्ति वृद्धिमान हो रही है, जो भी झगड़े हैं वे सब पर-वस्तु को निज-वस्तु बनाने के हैं।
41. धन की दासता जिसने स्वीकार कर ली उसे जगति पर सबकी दासता स्वीकार करना पड़ती है।
42. धन के राग में जीव अकरणीय कार्य भी कर लेता है। उच्च-कुल में उत्पन्न परिग्रह के वश होकर नीच कुलोत्पन्न घरों में दास-कर्म करने को तैयार हो जाता है।

43. ऐसे धन को धिक्कार हो जो स्वामी को सेवक बना देता है।
44. परिग्रह को पाकर अहं बुद्धि मत करो। धन, धरती, कुटुम्ब-परिवार, राज्य-पद ये सब पूर्व-कर्म का फलोदय जानो।
45. राजा भी रंक-सेवक होते देखे जाते हैं और सेवक भी राजा बनते देखे जाते हैं सब पूर्व कर्म का फलोदय है।
46. परिग्रह के साथ संसार भ्रमण ही होता है, निर्वाण गमन नहीं होता।
47. वे ही जीव लोक में धन्य-धन्य हैं; जिन्होंने सार्वभौम राज्य को प्राप्त कर जीर्ण तृण-तुल्य जान निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर त्रैलोक्य-पूज्य सिद्धत्व को प्राप्त किया।
48. परिग्रह में लिप्त जीव की दशा मुख में रोटी के टुकड़े को दबाए श्वान के समान है।
49. जो कुत्ता मुख में रोटी दबाकर दौड़ता है, न छोड़ता है, न खाता है, उसके पीछे अनेक कुत्ते लगे होते हैं और कष्ट देते हैं। उसी प्रकार परिग्रह का जो न भोग कर रहा है, न दान कर रहा है उसके धन के पीछे अनेक लुटेरे लगे होते हैं; प्राण भी जाएँ, धन भी जाए।
50. पुण्य-योग प्राप्त सम्पत्ति का भोग करना अनिवार्य नहीं है, यदि योग धारण कर सम्पत्ति का परित्याग कर दिया जाता है तो वह पुण्य मुक्ति-सम्पत्ति की साधना का साधन बनेगा।
51. वे नरोत्तम श्रेष्ठ हैं जो पर-सम्पत्ति को लोष्ठवत (मिट्टी के लोदे के समान) देखते हैं, स्व-सम्पत्ति को पुण्य का फल मानते हैं, परन्तु पुण्य व सम्पत्ति दोनों को निज ध्रुव भगवान्-आत्मा से अत्यन्त भिन्न देखते हैं।

6

सत्यार्थ-सूत्र

मैत्री

1. व्रत-उपवास की साधना बहिरंग-साधना है।
2. शत्रु-मित्र के प्रति साम्य-भाव सहज उत्पन्न होना **अंतरंग-मैत्री** है।
3. अंतरंग में प्रीति का बोध **मैत्री-भाव** से होता है।
4. मैत्री भाव में जाति-पंथ-सम्प्रदाय की गंध नहीं होती, निर्भेद प्रीति-भाव **मैत्री-भाव**।
5. मित्रता का तात्पर्य किसी एक जाति या जीव विशेष के प्रति राग-भाव नहीं है, अपितु एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव पर्यन्त जगत् के प्राणिमात्र के प्रति **मैत्री-भाव** होता है।
6. पर के दुःखों का कारण न होना **मैत्री है**।
7. प्राणिमात्र के प्रति करुणा-दृष्टि पूर्वक उनका उपचार करना मित्र का धर्म है।
8. मित्र के साथ विश्वासघात कभी नहीं करना, अविश्वासी को कभी मित्र नहीं बनाना।
9. विश्व में **मित्रता** ऐसा संबंध है जिसमें जाति-धर्म-सम्प्रदाय-पंथ का राग नहीं, अपितु हृदय का विश्वास होता है।
10. जो बात माता-पिता और गुरु के पास नहीं रखी जाती वह बात भी मित्र के पास रखी जाती है।
11. हृदय-से-हृदय का मिलन **मित्रता** है।
12. **सच्चा मित्र** वही होता है जो अपने मित्र के लिए धन ही नहीं प्राण भी देने को तैयार रहता है।
13. सुख के दिनों में जैसी प्रीति थी, दुःख के दिनों में भी वैसी प्रीति के दर्शन जहाँ होते हैं, उसे ही अपना **मित्र** समझो।
14. **मैत्री** अन्तःकरण की जोड़रूपता है, उसे नष्ट नहीं होने देना।

15. प्राणों के वियोग से भी अधिक पीड़ा तब होती है, जब मित्र की मित्रता नष्ट होते दिखे।
16. ब्रह्माण्ड में सबसे मधुर संबंध यदि कोई है, तो वह **मित्र की मित्रता** है।
17. बिना रिश्तों का संबंध **मित्रता** है।
18. जो निर्धनता को देखकर मुख मोड़ लें, ऐसी स्त्री व मित्र त्यागने योग्य हैं।
19. स्त्री का राग, मित्र का अनुराग धन से नहीं, हृदय से होता है।
20. जो दुर्व्यसन में ले जाए वह सच्चा मित्र नहीं, अपितु अनुकूल शत्रु है। इच्छा के अनुकूल अवश्य है, परन्तु खोटे कार्यों में ले जा रहा है, इसलिए शत्रु है।
21. **पाप का फल दुर्गति है।** जो पाप में लगाए वो मित्र कैसे हो सकता है? वह तो शत्रु ही है। सत्यार्थ मित्रता का बोध तब होता है जब पतन के मार्ग से बचाकर धर्म के मार्ग पर मित्र रख दे।
22. मित्र जल-पूरित मेघ के तुल्य होता है। जैसे बादल सूखी भूमि को अपनी वर्षा से आर्द्र कर फसल से हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार **सच्चा मित्र** सद्-गुणों से रिक्त मित्र को भी अपने सद्-गुणों से परिपूर्ण कर देता है।
23. जीवन में मित्रता समान गुणी-जनों से करनी चाहिए अथवा स्व से अधिक गुण वालों से करनी चाहिए। हीन-गुणी से कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए, यदि जीवन में दुःखों से मुक्ति चाहते हैं तो।
24. हीनाचारी की मित्रता पल-पल में कष्टप्रद होगी।
25. जो प्राणों का वियोग स्वीकार कर लें, पर मित्र के रहस्य को किसी को न बताता हो, ऐसा मित्र मिलता हो तो राज्य देकर भी स्वीकार कर लेना।
26. सदाचारी पुण्यात्मा-जीव की मित्रता सद्गुणकारी, यशवान, लोक पूजा-प्रतिष्ठा का कारण बनती है, वह जीवन के अन्त तक चन्दन की भाँति सुगंध प्रदान करेगी, इसलिए विशिष्ट पुण्यवानों के साथ मित्रता बनाकर चलें।
27. दुष्टों की मित्रता धर्म, यश, धन, धान्य, वंश, कुल नाश का कारण बनती है, इसलिए दुष्टजनों की मित्रता मन-वचन-काय से शीघ्र छोड़ देना चाहिए।
28. सज्जनों की मित्रता मधुर होती है, जैसे गन्ने की मित्रता से पानी भी मीठा हो जाता है उसी प्रकार गुणीजनों के साथ मित्रता करने से अल्प-गुणी भी गुणवान हो जाता है।
29. दुष्टों की मित्रता से सद्गुण ऐसे ही पिटते हैं जैसे लोहे की संगति से अग्नि पिटती है।

30. जो धर्म-संस्कृति की रक्षा में सर्वस्व समर्पित करने को तैयार हो, कुमार्ग से पूर्ण रहित हो उसे शीघ्र ही अपना मित्र बना लो।
31. स्व-प्रशंसक, पर-निंदक, ईर्ष्या से युक्त जिसकी जीवन शैली है, पर-उत्कर्ष सहन करने में जो असमर्थ है, ऐसे व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा मित्र-रिक्त जीना श्रेष्ठ है।
32. आस्तिक-शत्रु भी श्रेष्ठ है, नास्तिक-मित्र की अपेक्षा।
33. शत्रु वर्तमान में कष्टप्रद हो सकता है, परन्तु नास्तिक-मित्र आगामी भव में कष्टदायक होगा, धर्म से दूर करेगा।
34. अपने घनिष्ठ मित्र को सब दे देना, परन्तु माँ, बहिन, बेटी, स्व-पत्नी, आत्म-धर्म नहीं दे देना, इनका देना घोर अधर्म है।
35. मित्र से कोई बात नहीं छिपाना, परन्तु धर्मात्मा की कमी,जनक-जननी एवं गुरु के प्रति निंदा-भाषण मित्र से भी नहीं करना।
36. मित्र की मित्रता को दीर्घ-जीवी बनाकर रखना चाहते हो तो मित्र से मधुर-भाषण का प्रयोग करो, क्योंकि कटुक-भाषण विष-तुल्य है।
37. जैसे विष-भक्षण से प्राण शरीर से निकल जाते हैं, उसी प्रकार कटुक-भाषण से मित्रता के प्राण निकल जाते हैं।
38. जो मित्र के गूढ़-रहस्यों का उद्घाटन बाहर करें, मित्र की गुप्त-बातों को शत्रुओं से प्रकट करता हो, ऐसे मित्र की मित्रता विष-वृक्ष को पानी देने तुल्य है।
39. मित्र के वचन यदि हमारे सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वृद्धि के कारण हैं, आत्महित में कार्यकारी हैं तो कटुक भी क्यों न हों उन्हें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।
40. रोगी के लिए रोग मुक्ति के लिए जैसी कड़वी औषधि का सेवन उपादेय है वैसे ही हितोपदेश के कड़वे वचन भी हितकर जानो।
41. मित्र की मित्रता तभी तक जीवित रहती है जब दोनों मित्रों के मध्य श्री (धन) और स्त्री का राग प्रवेश न करे।
42. जिस क्षण मित्रों के मध्य श्री-स्त्री खड़ी हो जाती है, उसी क्षण मित्रता काँच के तुल्य टूट जाती है।
43. शत्रु भी मित्र बन जाता है, मित्र भी शत्रु बन जाता है, कर्म-विपाक पर; ऐसा ही संसार का स्वभाव है।

7

सत्यार्थ-सूत्र

प्रमोद

1. मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अंतरंग में भक्ति और अनुराग व्यक्त होना **प्रमोद है**।
2. सज्जन पुरुष गुणीजनों को देखकर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं, यही उनकी सज्जनता की पहचान है।
3. दुर्जन साधु-पुरुषों को देखकर खिन्न-चित्त हो जाते हैं, यही दुर्जन की पहचान है।
4. पुण्यक्षीण जीव गुणीजनों के सम्मान में कभी अगुवा नहीं बनता, जबकि गुणीजनों के सम्मान से स्वयं का सम्मान वर्धमान होता है।
5. अन्दर की आस्था को मुख-मण्डल पर प्रकट करने की कला का नाम **प्रमोद-भाव** है।
6. जिनके अन्दर प्रमोद भाव नहीं वे शुष्क सरोवर के तुल्य हैं, मात्र जमीन के गड्ढे के समान जहाँ प्यासे को पानी नहीं, कमल की सुगंध नहीं।
7. प्रमुदित-भाव गद्‌गद्-भाव भव्य प्राणी के ही होते हैं।
8. दुर्जन तो सद्‌गुणी जनों के मिलने पर मुख मोड़ लेते हैं, भाग्यहीन को भगवान् कहाँ? जिसके हृदय में सद्‌गुणियों के प्रति सम्मान नहीं, उसका हृदय क्या हृदय? वह तो शुष्क पाषाण का टुकड़ा है, जो अपने शुष्क भाव का त्याग नहीं करता, परन्तु वह तो पानी के अन्दर रहने पर भी सूखा ही रहता है।
9. सरल हृदयी जीव गुणीजनों को देखते ही प्रीति से लबालब भर जाते हैं।
10. उन्हें यह सम्यक्-बोध है कि—**''धर्मात्मा का सम्मान ही धर्म का सम्मान है, धर्म धर्मात्मा के ही अन्दर पलता है, धर्मात्मा के बिना धर्म कहीं नहीं होता।''**

10. जिनके अन्दर अवगुण देखने की भावना जाग्रत होती है, वे अल्प-धी, क्षीण-पुण्य, सद्गुणों को कैसे देख सकते हैं?
11. गुणवानों के गुण अवलोकन गुणग्राही जीव ही कर पाएगा। अवगुणी के अंतःकरण में ऐसा विशुद्धि का यंत्र ही नहीं है जो कि गुणीजनों के अंतस्थ के गुणावलोकन कर सके।
12. जो सद्गुणी जीवों के अन्दर भी अवगुण देख रहा है, उसकी काक-दृष्टि है, जो कि मोती छोड़कर मल को चुग रहा है।
13. मन उनके ही सुमन, शुभमन हैं, जो आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म-धर्मात्मा के प्रति प्रमुदित भाव को प्राप्त कर, अंतःकरण के क्लेश को विराम दे दें।
14. गुणी अवगुणी नहीं हो सकता, परन्तु अवगुणी गुणीजनों पर अपवाद की धूल फेंककर स्वयं को अवगुण-भाव की धूल-धरा पर स्थापित कर लेता है।
15. जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति प्रीति होती है, वह बछड़े को देखते ही रम्भाने लगती है, इसी प्रकार धर्मात्मा जीव गुणी-जनों को देखते ही प्रसन्नचित्त होकर वात्सल्यपूर्ण संभाषण करते हैं, परस्पर तत्त्व-ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं।
16. जो गुणीजनों को देखकर मुख मोड़ते हैं, उनके अन्दर अभी धर्मत्व-भाव का अभाव है।
17. जो मान-कषाय से उन्मत्त हैं वे अभागे ऐसे ही दया एवं उपेक्षा के पात्र हैं जैसे मदिरा का सेवन करने वाला मद्य के नशे में नाली में पड़ा है।
18. जिस देश, नगर, समाज, समूह में गुणीजनों का अपमान होता हो उसकी अवनति नियत है, इसमें कोई संशय नहीं समझना।
19. प्रमोद-भाव व्यक्ति के अन्दर के काषायिक-भावों को नष्ट कर देता है, अंतरंग में विशिष्ट शक्ति का संचार प्रदान करता है, विशेष आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है।
20. जैसे जल से तन का मैल धुल जाता है और मस्तिष्क में नवीन उत्साह-शक्ति का संचार होता है, वैसे ही प्रमुदित पुरुष स्व-पर को सुख प्रदान करता है।
21. गुण-ग्रहणता भी जीवन का एक महान् गुण है, वह प्रशस्त परिणामी जीव के अन्दर ही प्रवेश पाती है।

22. अप्रशस्त परिणाम वाला पुरुष गुण-ग्राही नहीं बन सकता, वहाँ गुण-ग्रहणता का प्रवेश निषेध है।

23. साधुजन गुणीजनों को देखकर इस प्रकार से संतुष्ट होते हैं जिस प्रकार गाय अपने वत्स को देखकर आँचल पान कराकर संतोष को प्राप्त होती है, क्षण-क्षण बछड़े को ही देखती है।

24. जैसे कामिनी को देखकर कामीजन को रोमांच होता है विषयाभिलाषा से युक्त होकर, उसी प्रकार गुणी-जनों को देखकर ज्ञानी-पुरुष को रोमांच होता है, गुण-ग्रहण की अभिलाषा से युक्त होकर।

25. गुणहीनों के साथ स्वर्ग का वास मिलता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए, गुणवानों के साथ नरक में वास कर लेना श्रेष्ठ है, क्योंकि गुणवानों का सहवास भविष्य में स्वर्ग और मोक्ष का कारण होगा।

26. धन देकर अन्य वस्तु जैसे स्वर्ण, चाँदी के आभूषण, वास्तु-क्षेत्रादि ली जा सकती है, परन्तु विश्व की सम्पूर्ण विभूति खर्च करके भी गुण-ग्राह्यभाव नहीं लाया जा सकता।

27. **गुण-ग्राहकता सर्वोपरि गुण है।** जिसके जीवन में गुण-ग्रहण भाव आ गया वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ पुरुष बन जाएगा।

28. क्षुद्रजन सर्वत्र अवगुणों का ही अवलोकन करते हैं।

29. गुणवान् यथार्थ में वही है जो अन्य गुणीजनों के गुणों का सम्मान तो करता है, परन्तु उनके प्रति ईर्ष्याभाव नहीं लाता।

30. ईर्ष्यालु के सभी गुण इसी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से ईंधन राख हो जाता है।

31. प्रमोद-भाव जाति या पंथ का रागी नहीं होता, प्रमोद-भाव तो मात्र गुणों का ही अनुरागी होता है।

32. प्रमोद-भाव विश्व में अखण्डता का पाठ सिखाता है, क्योंकि खण्ड वहाँ होते हैं जहाँ जाति या पंथ विशेष से राग हो।

33. प्रमोद-भाव तो गुणीजनों को देखकर होता है, गुणवान् किसी भी जाति-पंथ में हो सकता है, उनके प्रति अनुराग अखण्डता का सूत्र है।

34. चाण्डाल कुलोत्पन्न पुरुष भी सद्गुण सम्पन्न हो सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न भी दुर्गुण युक्त हो सकता है।

35. कुलीन पुरुषों को कुल की लाज बचानी है, जगति के सम्मान की इच्छा है तो उनका कर्तव्य है कि वे सद्गुणों को स्वीकार करें और अवगुणों का शीघ्र ही त्याग करें।

36. सज्जनों के मध्य सम्मान धन-धरती से नहीं मिलता, अपितु सत्यार्थ सद्गुणों की निधि से मिलता है।

37. ज्ञानीजनों के मध्य वे पूर्णिमा के चंद्रमा जैसे उद्योतित होते हैं जो अपने सद्गुणों का संरक्षण, संवर्धन करते हैं।

38. परमार्थ से निजात्मगुणों में आनन्दित होना प्रमोद-भाव है; स्वगुणों में प्रमुदित होना सम्यक्-दृष्टि जीव का लक्षण है।

39. अन्य जनों के गुण देखकर प्रमुदित होना **व्यवहार-प्रमोद** है, निज गुणों में प्रमुदित होना **निश्चय-प्रमोद** भाव है।

40. जिसको स्वगुणों में प्रमोद नहीं वह धर्मात्मा कैसा? सच्चा धर्मात्मा स्व-पर गुणों में प्रमोद को प्राप्त होता है।

41. हिंसक कार्यों में संलग्न पुरुष लौकिक अन्य कितने ही विशेषणों से विशिष्ट हो, परन्तु परमार्थभूत गुण-शून्य ही समझो, उसके प्रति प्रमोद-भाव प्रकट नहीं हो सकता।

42. व्यक्ति के अन्दर सर्वप्रथम दो गुण देखे जाते हैं—भोजन और भाषण। भोजन भक्ष्य, निरामिष, मर्यादापूर्ण हो। भाषण समितिपूर्ण हो। दोनों गुणों में अहिंसा परिलक्षित होना अनिवार्य है।

43. धर्म-धर्मात्मा को देखकर जो अंतरंग में गद्गद् भाव है, वही सत्यार्थ प्रमोद-भाव है।

8

सत्यार्थ-सूत्र

कारुण्य

1. जीवों पर दयाभाव रखना **कारुण्य-भाव** है।
2. अपने सुख में सुखी, पर के सुख में दुःखी होने वाले जीवों की संख्या विश्व में बहुत है, परन्तु पर के सुख में सुखी, पर के दुःख में दुःखी होने वाले कृपालु जीवों की संख्या बहुत कम है।
3. सूखे, अंधे-कुएँ के पास कोई कलश लेकर नहीं जाता, उसी प्रकार करुणाहीन के पास कोई भी सज्जन श्रद्धा-कलश लेकर नहीं जाता है।
4. **करुणा** साधु-पुरुषों की प्रथम पहचान है, जिसके भीतर करुणा नहीं वह कितनी ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ले, परन्तु सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।
5. **सिद्धि के लिए कारुण्य-हृदय चाहिए।** आम्रफलवत सरस जीवन कारुण्य-हृदय होता है, प्राणिमात्र के लिए सुखप्रद।
6. कोटि-कोटि हिंसक-यज्ञ से जो धर्म का सत्यार्थ फल दृष्टिगोचर नहीं होता, वह करुणाशील महात्मा पुरुष के अन्दर होता है।
7. जो करुणापूर्वक एक जीव की रक्षा करता है, वह भव्यवर कोटि-कोटि तीर्थों की वन्दना के फल को प्राप्त होता है और यदि कोई एक भी जीव की हिंसा में आनन्द लेता है उसकी सम्पूर्ण तीर्थ-वंदना, तप साधना, ज्ञानाराधना व्यर्थ में ही जाती है।
8. हिंसक के पास निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों ही सुख नहीं होते हैं।
9. मानवता वहीं जीवित रहती है, जहाँ करुणा का वास है।
10. मृत्युदण्ड कोई मानवता नहीं।
11. दण्ड वह प्रायश्चित्त विद्या है जिससे व्यक्ति में अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हो तथा वह सुधर कर श्रेष्ठ मानवता का जीवन जिये।
12. किसी के प्राणों का घात करने से आपका पुण्य नहीं बढ़ता, अपितु पूर्वकृत पुण्य का क्षय ही होता है।

13. अपनी गरीबी पर विवेकपूर्वक विचार करो, धनिकों को मारकर कभी धनिक नहीं बना जा सकता।
14. प्राणिमात्र की रक्षा करो, गरीबों को दया-दान करो।
15. सत्-पात्रों को समीचीन दान देने से धन की प्राप्ति होती है, न कि किसी के प्राण लेने से।
16. सम्यक्-तत्त्व के ज्ञान का अभाव होने के कारण भोले प्राणी कुज्ञानियों के द्वारा ठगे गए हैं।
17. हिंसा से स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि होने लगे, तो स्वयं विचार करो नरक-पशु दुर्गतियों में जाने का उपाय क्या होगा?
18. **करुणादान विश्व का सर्वश्रेष्ठ दान है।** इस दान के नीचे ही अन्य सर्वदान हैं।
19. शत्रु को भी कारुण्य-पूर्ण होकर जीने का दान (अभय-दान) देना वीरता का काम है, आपने अपने क्रोध-मान को गलित कर करुणादान दिया है।
20. करुणापूर्वक की गई दया ही **सच्ची दया** है।
21. जब जीव अंतरंग से पूर्ण अहिंसामय हो जाता है, तब उसके कारुण्य स्फुटित होती है।
22. करुणा का पात्र मात्र मानव नहीं, अपितु प्राणिमात्र है।
23. मूक पशु-पक्षियों पर भी करुणा करो; वे आपके भोजन नहीं, अपितु आपकी दया के पात्र हैं।
24. भृत्यों को भृत्य रूप में ही मत देखो; उनके अन्दर भी भगवान्-आत्मा है। उनका पापोदय आपका भृत्य है, अपनी संतान जैसा व्यवहार, उनके प्रति करना सीखो।
25. बेटे कुछ करें, न करें, परन्तु विश्वासशील भृत्य आपका कार्य अवश्य करेगा, इसलिए अपनी करुणा की शीतल बौछारें अनुचरों के ऊपर भी होना चाहिए। यही श्रेष्ठ-मानव की सच्ची मानवता है।
26. गुरुजन करुणा की मूर्ति होते हैं।
27. साधुजनों के अंतःकरण में करुणा का वास होता है।
28. साधुजन अपनी करुणा मात्र भक्तजनों, धनपतियों, राजा-मंत्री पर ही न वर्षाते, अपितु प्रत्येक जीव पर, प्रत्येक पंथ, सन्त-परम्परा पर वर्षाते हैं।

29. साधु किसी शिष्य को प्रायश्चित्त भी देते हैं तो करुणा को लक्ष्य में धारण करके देते हैं।
30. साधु अपने शिष्यों के अन्दर मानवता भरते हैं, वात्सल्य भरते हैं, अन्य-परम्पराओं के प्रति करुणा-भावसिखाते हैं।
31. वे ही सच्चे करुणावान हैं, जो प्राणियों के प्रति दयाभाव रखते हैं।
32. कारुण्य-दृष्टि सबको अपना बना लेती है, यह पवित्र-दृष्टि की पावन महा-महिमा है जिसने विश्व को पावन किया है।
33. कारुण्य-भाव अंतःकरण से उत्पन्न अहिंसा की लहर है जो कि कष्ट से शुष्क प्राणियों को आर्द्रता प्रदान करती है।
34. वे ही सज्जन कारुण्य धर्मी हैं जिनकी आँखों से पानी नहीं गिरता, लेकिन दूसरों को दुःखी देखते ही जिनके हृदय में करुणा का अश्रुपात होने लगता है।
35. करुणा दयारूप स्वयं की पीड़ा है उसे दूसरों के कष्ट दूर करके ठीक किया जाता है, यह अंतरंग का रहस्य है इसे भी समझो।
36. यदि प्राणियों के प्रति प्रत्येक प्राणी को करुणा उत्पन्न हो जाये तो भूमण्डल पर भय नाम की कोई वस्तु नहीं होगी और आतंकवाद, हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह जैसे पापों का भी अभाव हो जाएगा।
37. जहाँ पर संवेदनशीलता होगी वहीं पर कारुण्य-भाव अपना स्थान स्थापित करता है, संवेदन-शून्य व्यक्ति के पास करुणा कहाँ?
38. कारुण्य-भावयुक्त जीव की प्रवृत्ति सहज विवेकपूर्ण होती है; वह न शब्द से हिंसा करता है, न शरीर और न मन से अपितु प्रतिक्षण वह मन से स्वयं की आलोचना करता है।
39. कारुण भावयुक्त जीव निरंतर यही विचारता है कि मेरे निमित्त से बुद्धि-पूर्वक किसी को कष्ट न हो, पीड़ा न हो तथा हमेशा हिंसा-कर्म से रहित प्रवृत्ति बनी रहे।
40. जैसे शीतल जलाशय के तटवर्ती वृक्ष अत्यंत शीतल वायु प्रदान करते हैं। उसी प्रकार कारुण्य-भावों से युक्त साधु-जनों के संसर्ग से क्रूर-प्राणी भी अत्यंत करुणाशील हो जाते हैं।
41. दया-करुणा भाव से रहित लोगों का सहवास उसी प्रकार कष्टप्रद होता है जैसे जल-शून्य सरोवर जलचर जीवों को कष्टप्रद होता है।
42. जिसके हृदय सरोवर में करुणा जल लबालब भरा हो वहीं निवास करना उचित है।

43. साधुता वहीं है जहाँ प्राणिमात्र के प्रति करुणा भाव है, भेष मात्र में साधुता नहीं देखना।
44. जो साधु-भेषी पंथ-सम्प्रदाय को बल दें, द्वेष-ईर्ष्या की ज्वाला जलाएँ, करुणा-हीन करुणा के पात्र हैं।
45. मैत्री-भाव के अभाव में करुणा-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे बीज के अभाव में वृक्ष।
46. कारुण्य-भाव सम्पन्न जीव विशुद्ध भावों से दुर्गति का नाश कर, सुगति को प्राप्त होता है, इसलिए करुणा-भाव ही सर्व-सुखकारी है।
47. जो जीव सत्यार्थ को छोड़कर विपरीत मार्ग का आश्रय लेकर निजात्मा की वंचना कर रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग पर स्थापित करना परम-करुणा है।
48. करुणाशील का शरीर, मुख-मण्डल स्वयमेव शोभायमान होता है।
49. करुणाशील के शरीर के अन्दर श्वेत-कणिकाओं की वृद्धि होती है, लाल रक्त कणिकाएँ क्षीण होती हैं।
50. वे महा-पुरुष ही होते हैं जो जन्म से समाधि तक करुणा रस का पान करते हैं तथा अन्य भव्य जीवों को करुणा रस-पान करने का सदुपदेश देते हैं।
51. यह वसुन्धरा उन्हीं लोगों से सुशोभित होती है जिनके हृदय में करुणा रस की धारा बहती है। वे हृदय मरुस्थल हैं जिन हृदयों में करुणा का नीर नहीं।

9

सत्यार्थ-सूत्र

माध्यस्थ-भाव

1. राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न करना ही **माध्यस्थ-भाव** है।
2. निज-समत्व की रक्षा करना है, तो **माध्यस्थ-भाव** को स्वीकार करो।
3. भाव-हिंसा से अपनी आत्म-रक्षा करना है, तो माध्यस्थ-भाव का आलम्बन लेना अनिवार्य है।
4. एक गुरु कितना ही पुरुषार्थ कर ले, परन्तु अपने शिष्य को अपने जैसा नहीं बना सकता।
5. पिता पुत्र को जन्म देता है, परन्तु स्वयं जैसा नहीं बना पाता है, फिर अन्य जनों के सम्बंध में विचार करना ही अज्ञानता है।
6. आप अपने विचार रख सकते हैं, परन्तु उन पर चलना, न चलना व्यक्ति की स्वयं की इच्छा है।
7. परकीय शुभाशुभ प्रवृत्ति से प्रभावित होना एक कमजोरी है; स्वयं का निर्णय दृढ़ होना चाहिए।
8. स्व कर्तव्य-बोध स्व में हो।
9. **माध्यस्थ-भाव** द्रव्य एवं भाव दोनों हिंसा से जीव की रक्षा करता है, किसी के कृत्य से प्रभावित नहीं होने देता।
10. किसी से शीघ्र-अशीघ्र प्रभावित नहीं होना; तटस्थ-भाव से समझने के लिए प्रेरित करता है **माध्यस्थ-भाव।**
11. स्व-प्रज्ञा को भी माध्यस्थ-भाव से पढ़ना चाहिए।
12. कुछ लोग अपने आपको ही विश्व का ज्ञाता समझते हैं और ऐसा समझकर गुणी एवं गुरुजनों का भी अपमान कर बैठते हैं।
13. अहो आत्मन्! यथार्थ निर्णय करो कि हम तद्-विषय के ज्ञानी हैं या नहीं? आत्म-शान्ति का परम-मंत्र **माध्यस्थ-भाव** है।

14. किसी का कर्ता बनना, किसी को स्वयं का कर्ता बनाना, दोनों ही **अज्ञान-भाव** हैं। ज्ञानी जीव दोनों भावों से भिन्न-भाव में जीता है, वह भाव ही **माध्यस्थ-भाव** है।
15. यदि आप ऐसा विचारते हैं कि मैं सभी जीवों को दुःखी कर सकता हूँ अथवा सुखी कर सकता हूँ, तो यही आपका अज्ञान-भाव है।
16. प्रत्येक जीव का सुख-दुःख उसके पुण्य-पापोदय पर आलम्बित है, न कि आपके कर्तापन पर।
17. बाह्य निमित्त के रूप में आप दृष्टिगोचर हो सकते हैं, परन्तु अंतरंग तो अदृष्ट के ऊपर ही है। क्यों व्यर्थ में स्वयं को कर्तापन का क्लेश दे रहे हो?
18. परमार्थ ज्ञान-शून्य प्राणी माध्यस्थ-मंत्र से अपरिचित है। जो परमार्थ-बोध युक्त है उसे माध्यस्थ मंत्र का प्रभाव ज्ञात है।
19. माध्यस्थ मंत्र के आश्रय से ही आत्मा परमात्मा बनेगी, अन्य कोई उपाय साधकतम नहीं है।
20. भावों में उठते पर के सुख-दुःख के कर्तापन के बबूले **माध्यस्थ-भाव** की वायु से शान्त हो जाते हैं।
21. चाहे कष्ट के दिन आएँ, चाहे सुख के, दोनों में ही प्राणी असामान्य होने लगता है माध्यस्थ भाव शुन्य व्यक्ति।
22. कष्टकाल में हीन-भावना से भरने लगता है तथा सुख के काल में अहं-भावना से, दोनों ही अवस्थाओं का फल, पुनः महाकष्ट। दोनों भावनाओं से आत्म-रक्षा का अमोघ-शस्त्र है **माध्यस्थ- भाव।**
23. गृह-परिवार में छोटी-छोटी बातों पर परस्पर के सम्बंध विच्छेद को प्राप्त हो रहे हैं, ज्ञात हुआ वर्षों तब बोलना बंद हो चुका है घर में होने पर भी घर जैसे नहीं लगते, ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि माध्यस्थ-भाव का आश्रय नहीं लिया।
24. अरे भाई! तुच्छ-तुच्छ बातों को माध्यस्थ-भाव से देखते हैं तो परिवार हरा-भरा रहता है।
25. जो देश, राज्य, नगर, यूथ, परिवार, संघ, संस्था अच्छे से चल रहे हैं अथवा चलेंगे वे सब माध्यस्थता की शक्ति से चल पाते हैं। अन्य कोई भी बड़ी शक्ति विशाल देश को चलाने में सामर्थ्यवान नहीं है।
26. स्वामी को सभी के प्रति माध्यस्थता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर है।

27. किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के प्रति पक्ष-विशिष्ट रखने से शासन नहीं चल सकता।
28. राजा को किसी से विशेष प्रीति भी हो तो उसे सामूहिक प्रकट न करे, यही श्रेष्ठ नीति है।
29. आत्मस्थ पुरुष वही हो सकता है जो माध्यस्थ-भाव को सिद्ध कर चुका है।
30. जब-तक व्यक्ति माध्यस्थ नहीं होगा तब-तक उसके लिए आत्मस्थ होना असम्भव है।
31. अंतरंग-बहिरंग विकारों को नष्ट करने के लिए माध्यस्थ-भाव परम रसायन है।
32. साधक जब शरीर से माध्यस्थ-भाव स्थापित करता है, तब उग्र-साधना के मार्ग पर चल पाता है।
33. माध्यस्थभाव की साधना वर्द्धमान करते हुए साधक-पुरुष आत्मा के अन्दर ही माध्यस्थता स्थापित करते हैं, यही साधक की अंतरंग साधना है।
34. संसार के प्रत्येक जीव को संतुष्ट करने की क्षमता परमात्मा के पास नहीं; फिर अन्य सामान्य-प्राणी क्या कर पायेंगे?
35. नाना-प्राणियों की विभिन्न-आकांक्षाएँ हैं, उन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता और जो पूर्ण करने में लगता है वह अपनी शान्ति-समता को ही भङ्ग कर लेगा, इसलिए पर की इच्छाओं के प्रति भी माध्यस्थता को रखना होगा, स्व-शान्ति हेतु।
36. अयोग्य व्यक्ति को भी अहंकार-ममकार भाव होता है। पद की आकांक्षा में, अधिकार के मद में अयोग्य व्यक्ति भी अपने को योग्य घोषित करता है।
37. माध्यस्थता के बिना श्रेष्ठ योग्य-पुरुषों की योग्यता की कीमत नहीं हो सकती है।
38. आत्मा की परम-सत्ता को प्रकट कराने की योग्यता यदि किन्हीं भावों में है; तो वह भाव **माध्यस्थ-भाव** है।
39. जब साधक पर से निरपेक्ष होकर स्व के मध्य ही स्थित होता है तब वहाँ राग-द्वेष, पक्षपात को स्थान ही नहीं होता है।
40. पक्षपात शून्य भाव का नाम ही तो **माध्यस्थ भाव** है।
41. माध्यस्थ-भाव से ग्रंथों को पढ़ो, पर वेदन निर्ग्रंथ बनकर करो। एक-एक अशुभ-भाव की गाँठ खोल दो।

42. प्रत्येक प्राणी के परिणाम स्व-कषाय जन्य हैं, पर-कषाय से पर के परिणाम नहीं होते, बाह्य निमित्त अवश्य हो सकते हैं, परन्तु कषाय तो व्यक्ति के अशुद्धनय का विषय है, पर संयोगीभाव ही कषाय के कारण हैं अशुभ-भावों के कारण हैं।
43. स्व-काषायिक भाव भी जीव के हैं, आत्मा के नहीं।
44. जो चार प्राणों से तीनों कालों में जीता है वह जीव है।
45. जीव पर-संयोगों से युक्त होता है और आत्मा शुद्ध-चैतन्य धातु है; उसमें पर का कोई संयोग नहीं है, इसलिए राग-द्वेषादि कषाय-भाव मेरा द्रव्य नहीं है, परमार्थ से इनसे भी माध्यस्थता को धारण करता हूँ।
46. एकत्व-भाव की लीनता तभी प्राप्त होगी जब जगत् को निज-भाव से विभक्त देखकर सबसे मध्यस्थ हो जाएगा।
47. स्व-स्वरूप में किसी भी पर-पदार्थ का प्रवेश नहीं है, एकमात्र ध्रुव ज्ञायक-भाव ही निज-भाव है।
48. माध्यस्थता को प्राप्त पुरुष मात्र पुरुष का ही वेदक होता है; अन्य द्रव्यों के वेद्य-वेदक भाव का अभाव है।
49. जो पुरुष के द्वारा वेदा जाने वाला पुरुष है वह चैतन्य आत्मा है; जो कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है।
50. उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावभूत है। पर के द्वारा न कृत, न कारित, न अनुमोदित, वह तो एकमात्र स्व-स्वरूप अहेतुक ही है।
51. जगत् का मित्र बनकर जीना है तो एकमात्र माध्यस्थ-भाव ही आलम्बन है।
52. न किसी से मित्रता करो, न शत्रुता; अपितु सभी को सामान्य देखो। न विशेष बनो किसी के, न विशेष बनाओ किसी को, शान्त-माध्यस्थ हो जाओ, सभी आपके मित्र होंगे।
53. माध्यस्थता की भूतार्थता को जो समझता है, वही विश्व का श्रेष्ठ-सुखी तत्त्वज्ञानी जीव है।
54. मध्यस्थता रहित शास्त्र-पाठी तो मात्र स्व-बुद्धि का व्यायाम कर रहे हैं तथा मानसिक क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं।
55. सम्पूर्ण शास्त्रों के अध्ययन का सार यदि जीवन में कोई है, तो वह आत्मशान्ति है।

56. वह आत्मशान्ति तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण-लोक से माध्यस्थता का व्यवहार करोगे, इसलिए 'देखो, जानो, जाने दो' सूत्र को कंठाहार बनाओ।
57. जड़त्व-स्वभावी द्रव्य कभी अजड़त्व-भाव को प्राप्त नहीं होता, फिर भी अज्ञ प्राणी जड़-द्रव्यों के राग में जड़-बुद्धि हो रहा है।
58. भूतार्थ सत्यार्थ का जाननहारा एकमात्र निजात्म-द्रव्य को छोड़कर सबसे माध्यस्थ होकर परम सुख का भोग करता है, जो कि इन्द्रिय सुख शून्य अतीन्द्रिय-सुख है।
59. अहो आत्मन्! विश्व में तप से बड़ा कोई इष्ट-सिद्धि का साधन नहीं है, परन्तु तप की सिद्धि तभी होगी जब साधक माध्यस्थ-भाव की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।
60. सम्पूर्ण काषायिक विकारी-भाव, पंचेन्द्रियों के विषयों से माध्यस्थ-भाव स्थापित कर परम-वीतराग भाव में लीन साधक आत्मा के चरम-उत्कर्ष पर पहुँचता है, जहाँ से पुनः आना नहीं होता। वह परम-सिद्ध दशा है।
61. अशुभ कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं; वे सब प्राणी सत्त्व हैं। सत्त्व अर्थात् जीव।
62. असाता वेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं वे **क्लिश्यमान** कहलाते हैं।
63. जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में बढ़े-चढ़े हैं वे **गुणाधिक** कहलाते हैं।
64. जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने का गुण नहीं है; वे अविनेय कहलाते हैं।
65. सज्जनों को सत्त्व अर्थात् सर्व प्राणियों में मैत्री-भाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद-भाव, क्लांत जीवों के प्रति करुणा-भाव तथा विपरीत बुद्धि वाले जीवों के प्रति माध्यस्थ-भाव स्थापित करना चाहिए।

10

सत्यार्थ-सूत्र

विवेक

1. हेय-उपादेय में भेद करने की बुद्धि, ग्राह्य-अग्राह्य का भेदज्ञान, तत्त्व-अतत्त्व की परीक्षा-कौशल्य का नाम '**विवेक**' है।
2. **विवेकी** जीव समय पर सम्पूर्ण कार्यों का पूर्व से विचार कर लेता है, जबकि कार्य के बाद विचार करना **अविवेक** है।
3. संसार में विवेक से बड़ा अन्य कोई सुख नहीं और अविवेक से बड़ा कोई दुःख नहीं।
4. विवेक से बड़ा कोई मित्र नहीं है और अविवेक से बड़ा कोई शत्रु नहीं है; यह सनातन सिद्धान्त है। इसे परिवर्तित करने की किसी में शक्ति नहीं है।
5. प्रज्ञ-पुरुष प्रत्येक कार्य को करने के पूर्व अच्छी तरह से विचार करते हैं, बिना सम्यक्-विचार किए कोई कार्य नहीं करते हैं।
6. अज्ञ-प्राणी कार्य करने के पश्चात् विचार करते हैं और बिना विचार किए ही कार्य कर लेते हैं, ऐसे लोग दुःख और उपहास के पात्र होते हैं।
7. भावुकता में लिया गया निर्णय हर समय कष्टप्रद होता है।
8. किसी कषाय के वश होकर कुछ कार्य करने के पूर्व कम-से-कम एक बार यह तो विचार करो कि इसका भावी परिणाम क्या होगा?
9. जो कार्य इह-लोक में निन्दा एवं पर-लोक में दुर्गति करें, ऐसे कार्य विवेकी-जनों को स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए।
10. अविचार पूर्वक जो कार्य करता है वह अपने जीवन में मानसिक एवं शारीरिक अनेक कष्टों को क्षण-क्षण में प्राप्त होता है।
11. प्रेक्षाकारी पुरुष सर्वत्र यश और सुख को प्राप्त होते हैं, उन्हें संसार में कष्ट नाम की वस्तु प्रदान करने वाला कोई भी नहीं है।
12. विवेकशील स्व-पर के कल्याणकारी होते हैं; उन्हें हेय-उपादेय का समयानुकूल बोध होता है, वे समय के अनुसार परिवर्तन करना जानते हैं।

13. विवेकशील लोग निजात्मा को पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने नहीं देते, वे अंतःकरण के भावों की भाषा को पढ़कर जाग्रत रहते हैं तथा शान्त-चित्त से स्व की भविष्यवाणी का बोध कर लेते हैं।
14. किसी भी व्यक्ति से स्व-वचनों का प्रयोग करने के पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन वचनों का दूरगामी प्रभाव क्या होगा? धर्म-यश-संस्कृति की वृद्धि में कारण होगा या घातक? ऐसा विवेकपूर्ण विचार करके ही महाजन अपने वचनों का उपयोग करते हैं।
14. हास्य-विनोद करो, चित्त को प्रसन्न रखने के लिए, परन्तु मर्यादा-काल देखकर, पुरुष विशेष को देखकर, क्षेत्र देखकर, अल्प करो।
15. ऐसा हास्य-विनोद न करें जिससे धर्म, समाज, परिवार, देश, राष्ट्र पर कष्ट आ जाए।
16. विवेक का अर्थ है; विभक्त करना, पृथक् करना। करणीय-अकरणीय में भेद करके चलना, सहज-शीघ्र किसी से प्रभावित नहीं होना।
17. विवेकवान की चर्या सर्वथा-सर्वदा प्रशंसनीय होती है।
18. चारित्रवान श्रेष्ठ वही होता है जो श्रेष्ठ विचारशील होता है।
19. विवेकी गूढ़-विद्या के गूढ़-रहस्यों का साक्षात्कार अपनी चिंतन-शक्ति से कर लेता है।
20. चिंतनशील लोगों के मध्य बैठने से स्व के चिंतन में विशेषता आती है, इसलिए चिंतनशील लोगों की संगति करनी चाहिए, स्व-चिंतन के विकास के लिए।
21. चिंतन-शून्य, चारित्र-शून्य लोगों के समीप कभी न बैठें, अतः प्रज्ञा में शून्यता आ जाएगी।
22. विवेकहीन लोगों की दशा खुजले श्वान जैसी होती है। जहाँ देखो वहाँ वह खाज-खुजाने बैठ जाता है। उसकी इस वृत्ति को कोई पसंद नहीं करता, उसे कोई पास में बैठने नहीं देता, सभी उसे भगाते हैं।
23. **विवेकीजन** अपने-आप में शान्ति का वेदन करते हैं। वहीं विवेकहीन अशान्तिपूर्ण जीवन जीता है।
24. जीवन संसार में ऐसे जिओ जिससे किसी से शत्रुता का जन्म न हो तथा मित्रता की मृत्यु भी न हो।
25. धर्म-यश की वृद्धि हो, यह प्रक्रिया विवेक से ही सम्भव है।

26. विवेक खोकर किसी भी कार्य में प्रवेश मत करो, जो व्यक्ति विवेक से रिक्त होकर कार्य करता है वह लोक में शत्रुता की वृद्धि करता है तथा मित्रों के मध्य उपहास को प्राप्त होता है।
27. **विवेक** मानव को महा-मानव बना देता है तथा **अविवेक** विद्वान् को भी मूर्ख घोषित कर देता है।
28. प्रज्ञ-पुरुषों का कर्तव्य है कि वे प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करें।
29. लोक में जिसकी एकमात्र स्वात्म-हित पर दृष्टि है, जो सम्पूर्ण पर-भावों के प्रपंचों से निज को पृथक् रखता है, तटस्थ-भाव से सबको देखता है, वही सच्चा विवेक-सम्पन्न प्रज्ञवान पुरुष है।
30. परम विवेक-भाव से देखो; जगत् में पुण्य-पाप दोनों भूतार्थ शान्ति से रक्षा कर रहे हैं।
31. जहाँ कर्ता-भाव आता है, वहाँ शान्ति का आनन्द कहाँ? पर क्या करें? परमार्थ-विद्या को जानने वाले जीव अत्यंत अल्प हैं।
32. लोगों को भान ही नहीं, कर्तापन शान्तिदायक नहीं है, अपितु अकर्ता-भाव ही आत्म-शान्ति का प्रदायक है।
33. **विवेक-बोध** सर्वज्ञ-देव कथित शब्द-ब्रह्म से ही प्रकट होगा।
34. बिना सर्वज्ञ भाषित श्रुत के सत्यार्थ विवेक ज्ञान सम्भव नहीं।
35. बिना विवेक ज्ञान के सत्यार्थ का अनुभवन नहीं हो सकता।
36. भ्रम एक महामारी रोग तुल्य है, ऐसे भ्रम-रोग का अंत सच्चे आगमों के अभ्यास से होगा, अनागमों के अभ्यास से नहीं होगा, इसलिए आगमाभ्यास करो।

11
सत्यार्थ-सूत्र
धैर्य

1. **धैर्य** मानव-जाति का आभूषण है।
2. वे लोग सम्पूर्ण लोक में श्रेष्ठ गुणी होते हैं जो प्रत्येक कार्य का निर्णय धैर्यता से लेते हैं और अधीरता से आत्मरक्षा करते हैं।
3. अधीर पुरुष आपापर के विवेक को खो देता है, वह स्व-पर को क्लेश का कारण बनता है।
4. अधीर मनुष्य सामान्य विषय को भी विशेष बनाकर देखता है। वह अपनी अधीर-वृत्ति से लोक में निन्दा और दया का पात्र होता है।
5. धीरता से सम्पूर्ण उपसर्ग-परिषहों को प्रसन्नचित्त, ज्ञायक-भाव से सहन किया जा सकता है, अधीरता से नहीं।
6. धीर पुरुष के धैर्य को देखकर कष्ट भी कष्ट में पड़ जाते हैं, उन्हें विचारना पड़ता है कि यह कितना महान् है जो मेरे होने पर भी धृति-भाव से बैठा है। धन्य है ऐसे महामना के लिए।
7. अधीरता व्यक्ति के व्यक्तित्व को नीचे ले जाती है।
8. अधीर व्यक्ति अपने आपको ही नहीं सँभाल पाता, वह प्रत्येक कार्य अधीरता पूर्वक करके जगति में उपहास का पात्र बनता है।
9. सज्जन लोग अधीर-व्यक्ति से आत्मरक्षा करते हैं, क्योंकि अधीर-व्यक्ति मानसिक दुःख देता है।
10. अधीरता व्यक्ति के अन्दर अनेक प्रकार के अवगुणों को उत्पन्न करा देती है।
11. क्षमादि गुणों का तो अधीरता में अवकाश (का-स्थान) ही नहीं है।
11. **धैर्यवान** प्रत्येक कार्य को पूर्वापर अवस्था देखकर करता है।
12. लाभ-अलाभ संसार का स्वभाव है, इसमें हर्ष-विषाद करके व्यर्थ में संक्लेशता को क्यों प्राप्त करूँ, धैर्यवान-पुरुष ऐसा सम्यक्-चिन्तन करता हुआ स्व-पर को धीरता प्रदान करता है।

13. अधीरों का मित्र **धैर्य** है।
14. अधीरता मानसिक पीड़ा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देती, जबकि धैर्य शारीरिक, मानसिक, वाचनिक सम्पूर्ण विपदाओं से रक्षा करता है।
15. अधीरता अस्थिरता को उत्पन्न करती है।
16. अस्थिर-चित्त में कभी भी आत्मशान्ति का वास नहीं होता।
17. आत्मशान्ति चाहिए; तो सर्वप्रथम निज अंतःकरण को अधीरता से शून्य करो और धीरज से पुष्ट करो।
18. धैर्य के अभाव में न व्यवहार में सुख मिलता है, न ही परमार्थ में।
19. अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति धैर्य से ही होती है।
20. अधीरता जीवन उन्नति में बहुत बड़ा अवरोध है, इसे हटाना अनिवार्य है।
21. यदि आप अपने जीवन में अधीरता पर विजय प्राप्त नहीं कर पाए, तो सम्पूर्ण जीवन कष्ट और अपयश के साथ निकलेगा।
22. सारा विश्व उसके साथ है जिसके पास शूरता-धीरता, भाग्य की प्रबलता है।
23. अधीर व्यक्ति के साथ स्व के परिजन भी नहीं रह पाते, अन्य की क्या बात करें।
24. उन वीर धैर्यवान नरोत्तमों को देखो जिनके जीवन में परिजन, स्वजन व अन्यजनों के द्वारा घोर उपसर्ग किए गए, विपुल कष्ट दिए गए फिर भी अपने दृढ़ विश्वास के साथ स्व-कर्तव्य से च्युत नहीं हुए।
25. अखण्ड विश्वव्यापी बनने के लिए **धीरता** का कवच धारण करना अनिवार्य अंग है। बिना **धैर्य** धारण किए कोई भी विश्वव्यापी नहीं बन सका।
26. अधीर का भी समय निकलता है, धीर का भी समय निकलता है। धीर की भी मृत्यु होती है, अधीर की भी मृत्यु होती है। जब दोनों की ही मृत्यु होती है तो धीरता के साथ मरण क्यों न करें?
27. अज्ञानी ही अधीरता में डूबता है, ज्ञानी को अधीरता स्पर्श भी नहीं कर पाती।
28. धैर्यवान ज्ञानी जीव तत्त्व-निर्णय के बल से ज्ञानी जीव अपनी सम्पूर्ण विषमताओं को समता में परिवर्तित कर लेता है।
29. अधीरता भी अधीर हो जाती है, तत्त्वज्ञानी को देखकर।
30. धैर्यवान के सामने देव भी शीश झुकाते हैं।
31. विषमताओं में समता कैसे रखी जाती है, यह विद्या धैर्यशाली के ही पास होती है।

32. शारीरिक, वाचनिक, मानसिक कोई भी पीड़ा हो, परन्तु साम्यभाव से धैर्यशाली आनन्द के साथ जीता है।
33. पर के कष्ट को सुनकर, कष्ट निवारण का विवेकपूर्ण विचार करो, परन्तु पर के कष्ट को सुनकर इतने अधीर मत हो जाना कि स्वयं की आत्मा को कष्ट आ जाए।
34. स्व-शक्ति से पर के दुःख का निवारण करो धैर्य पूर्वक, पर दुःखी होकर नहीं।
35. आत्मद्रव्य का स्वभाव कर्मनिरपेक्ष देखो, जो कुछ हो रहा है वह स्व-स्व उपादान में हो रहा है, निमित्त तो मात्र निमित्त ही है। क्यों व्यर्थ में अधीर होकर संक्लेशता को प्राप्त हो रहा है।
36. जीव का उपादान जीव ही है, पुद्गल का उपादान पुद्गल है। भिन्न द्रव्य का उपादान भिन्न द्रव्य नहीं होता।
37. जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है ही नहीं तो फिर कर्ताभाव लाकर व्यर्थ में क्यों क्लेश को प्राप्त हो रहा है?
38. अधीरता सम्पूर्ण आत्मगुणों को मलिन कर देती है।
39. लोक में अविश्वास अमैत्रीभाव को जन्म देता है, इसीलिए सज्जनों को धैर्य धारण का अभ्यास करना चाहिए।
40. सर्वप्रथम दूसरे की बात को गंभीरता के साथ सुनना चाहिए, फिर प्रेक्षा-पूर्वक सादर उत्तर देना चाहिए।
41. अधीरता मानव जीवन में एक कड़वा विष है, जो कि जीवन में अमृतभूत विवेक का घात कर देता है।
42. जहाँ विवेक का विघात हुआ वहाँ सम्पूर्ण विशिष्ट आत्मगुणों का पतन प्रारंभ हो जाता है, इसीलिए सज्जनों को अधीरताभूत कालकूट विष से प्रतिक्षण सँभल कर रहना चाहिए।
43. **वे लोग** लोक में महान् हो गए जो अधीरता रूपी विष से दूर हो गए, धैर्य रूपी अमृतरस का पान कर गए।
44. **धीरज** धारण करने से बिगड़ते कार्य भी सँभल जाते हैं।
45. **धैर्यगुण** सर्वगुणों का आधार है, बिना धैर्य-भूमि के किसी भी गुण को स्थित होने को कोई स्थान नहीं है।
46. सम्पूर्ण गुणों को मंडित करने का अधिकार धैर्य के पास है।

47. प्राणी धनवान, बलवान, पुण्यवान या सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी यदि धैर्यवान नहीं है तो वह लोक में परमार्थ में सर्वत्र कार्य-हानि को ही प्राप्त होगा, कार्य सिद्धि तभी होगी जब व्यक्ति के अन्दर धैर्यगुण होगा।
48. **धैर्य** विचार करने के लिए समय देता है, प्रेक्षापूर्वक (विचारपूर्वक) किया गया कार्य सम्पूर्ण सफलताओं को प्रदान करता है।
49. कीर्ति धृति का मुख देखती है, बिना धृति के कीर्ति अपना कदम आगे नहीं रख पाती।
50. यदि आपको कीर्ति पाने की इच्छा है तो प्रत्येक कार्य के करने में तथा बात करने में धृति को धारण करना अनिवार्य अंग है।
51. धैर्यता युक्त भूमिगत बीज ही समय पाकर अंकुरित होकर विशाल वृक्ष बनता है; उसी प्रकार धैर्यवान पुरुष के प्रत्येक कार्य सहजता से विशालता में परिवर्तित हो जाते हैं, यह धीरजता का सुफल है।
52. आप कितने ही श्रेष्ठ ज्ञाता तद्-विषय के क्यों न हों, परन्तु जब आपसे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ गुरुजन तद्-विषय पर वार्ता कर रहे हों तब तक स्व प्रज्ञा का धैर्य रखना जब तक गुरुजन आपको बोलने का संकेत न करें। यहाँ पर आपके ज्ञान और धैर्य की परीक्षा है। उत्तीर्णता-अनुत्तीर्णता स्व के अधीन है।
53. यदि आप कुशल वक्ता हैं और आपके पूर्व वक्ता ने आपके विरुद्ध भाषण किया, फिर भी आप धैर्य को न खोकर अपने नियत विषय पर ही बोलते हैं तो आपके उपदेश में अमृत है।
54. कषाय के उद्रेक काल में यदि व्यक्ति विवेकपूर्वक धैर्य धारण करके एक मुहूर्त प्रमाणकाल कषाय-भाव को टाल दे, तो महा-पाप संक्लेशता से आत्मरक्षा हो जाती है।
55. विषयों की अधीरता ने व्यक्ति के जीवन को नाश कर दिया।
56. एक क्षण की वासना ने कितने जीवों के धर्म-यश का पतन करा दिया।
57. वासना के पूर्व वासना का फल जान लेता तो सम्प्रति (अब) लोक में सिर नीचा न होता, भविष्य में दुर्गति का पात्र न बनता; विद्वान् के मध्य सम्मान को प्राप्त होता।
58. **धैर्य** पूर्ण-सत्य का बोध करा देता है जैसे शीतल स्थिर पयस (पानी) में जल-तल में कहाँ मोती हैं, कहाँ अन्य कीमती पदार्थ हैं।

59. धैर्य गुण से जीवन के भूतार्थ रहस्य दृष्टिगोचर होते हैं, इसीलिए वस्तु-तत्त्व के निर्णयकाल में धीरता-गंभीरता का आश्रय लेना अनिवार्य है।
60. विपत्ति काल में भी **धैर्य** नहीं छोड़ना चाहिए।
61. जो विपत्ति के काल में धैर्य छोड़ देता है उसे विपत्तियाँ महाकष्ट देती हैं और जो धीर-पुरुष विपत्ति काल में धैर्य नहीं छोड़ते उन्हें विपत्तियाँ स्वतः छोड़कर चली जाती हैं।
62. धीर पुरुष के सामने अनेक बार विषमताओं के काले बादल आते हैं, परन्तु वे महापुरुष धैर्य की हवा से उन्हें हटाकर अलग कर देते हैं।
63. कष्टों के श्याम बादल भी धैर्यशील का कुछ नहीं कर पाते।
64. अशान्त-परिणामी जीव भी सहज, समतावान धैर्यवान के समीप आकर साधु-स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं।
65. सर्वगुणों का संरक्षण-दायक धैर्यगुण को जीवन के प्रत्येक पलों में अपने साथ रखो, तो आपके सर्वगुणों की रक्षा स्वतः हो जाएगी।

12

सत्यार्थ-सूत्र

दया

1. प्रत्येक जीव जीने की इच्छा रखता है, संसार में कोई भी जीव अपना मरण नहीं चाहता।
2. प्राण-वियोग से बड़ा अन्य कोई कष्ट लोक में नहीं है।
3. पर के प्राणों का हरण, स्वयं के प्राणों का वियोग कर लेना दोनों घोर पाप है।
4. स्व-पर आनन्दप्रद लोक में कोई वस्तु है, तो वह **दया** है।
5. दया स्व को भी सुख देती है और जिस पर दया की जाती है, उसे भी सुख प्राप्त होता है, इसलिए **सर्व-धर्म का सार दया** है।
6. **दयाधर्म** का आश्रय लेने से आत्मशान्ति के साथ विश्वशान्ति का भी दिव्य जयनाद होता है।
7. जब आप किसी को प्राण नहीं दे सकते हो, तो फिर आपके लिए किसी अन्य के प्राण हरण करने का अधिकार किसने दिया? पर के प्राणों का संहार करना मानवता पर कलंक है।
8. किसी को कष्ट देना यह मानव धर्म नहीं है।
9. थोड़ा शान्तचित्त से चिंतन करो, आवेग में नहीं, विवेकपूर्वक आचार-विचार करो।
10. अहो मानव! मानवता रो रही, क्योंकि पशु से अधिक पशुता मानव के पास आ गई।
11. **ओहो! मानव,** मानव को मार रहा, स्वसंतान का भी घात कर रहा, स्व-शरीर, श्री-स्त्री के लिए।
12. जहाँ 'श्री' और 'स्त्री' का राग प्रवेश कर जाता है, वहाँ से दया का पलायन हो जाता है।
13. धन-दारा का राग विश्व का ऐसा राग है जिसके कारण सम्पूर्ण मधुर संबंध

क्षणमात्र में कड़वे हो जाते हैं और फिर दया समाप्त हो जाती है, शत्रुता प्रकट हो जाती है।

14. धर्म वहीं होता है, जहाँ प्राणियों के हृदय-पटल पर दया अंकित होती है।
15. जहाँ दया का अभाव है, वहाँ पर सत्यार्थ धर्म का भी अभाव है।
16. मंदिर, तीर्थक्षेत्र, धर्म के प्रतीक-स्थान हैं, **धर्म तो दया है।**
17. किसी की भूतकाल की कमी को जानकर वर्तमान में प्रकट करना भी **अदया भाव है**।
18. दोष प्रकट होने पर व्यक्ति को बहुत मानसिक पीड़ा होती है, उसका हृदयाघात भी हो सकता है।
19. यदि आपके अन्दर किञ्चित् मात्र भी दयाभाव है तो किसी को भी संतापित मत करो, उसका कर्म उसे स्वयं देख लेगा, आप व्यर्थ क्यों कष्ट उठाते हो।
20. लोक ईर्ष्या का घर है, इसमें सभी आपके हित-चिन्तक नहीं हो सकते।
21. भूत-भूल को वर्तमान में प्रकट करने की क्षमता उन्हीं लोगों में होती है जो आपके बहुत पास होते हैं। उनके प्रति भी अशुभ परिणाम नहीं लाना तथा स्व के प्रति भी हीन-भावना नहीं लाना।
22. स्वयं पर **मानसिक दया-भाव** अत्यन्त दुर्लभ-भाव है।
23. अंतरंग की उज्ज्वलता व्यवहार में दया के रूप में प्रकट होती है और आंतरिक क्रूरता हिंसात्मक क्रिया रूप में प्रकट होती है।
24. बहिरंग की प्रवृत्ति व्यक्ति के अंतरंग का यथार्थ बोध कराती है।
25. दयावान मर्मभेदी शब्दों का भी प्रयोग नहीं करता, क्योंकि उसको बोध है कि कठोर वाणी बाण से भी अधिक कष्टप्रद होती है।
26. कर्कश बोलने वाला न स्वयं को प्रसन्न रख पाता है, न अन्य को।
27. स्व-पर को पीड़ा देने वाला क्रूर हृदयी वह है; जो मर्मभेदी शब्दों का प्रयोग करता है।
28. प्रत्येक प्राणी स्व-स्व भाग्य से जीता है, स्व-आयु के क्षय से मरता है, फिर आप पर के अहित का अशुभ-चिंतन करके मानसिक हिंसा क्यों कर रहे हो?
29. आपके विचार करने से न कोई जीता है, न मरता है, इसलिए अपने दयाभाव की रक्षा करो।

30. दया के अभाव में धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं।
31. जहाँ पर दया-करुणा का अभाव, है वहाँ व्यवहार धर्म का ही अभाव है, परमार्थ धर्म की तो गंध ही नहीं।
32. बिना व्यवहार धर्म के परमार्थ धर्म का जन्म नहीं, परमार्थ धर्म का कारण व्यवहार धर्म ही है।
33. करुणा-दया से शून्य हृदय में धर्म की मृत्यु ऐसे ही हो जाती है जिस प्रकार सरोवर के सूखने पर मछली आदि जलचरों की मृत्यु हो जाती है।
34. जल विहीन क्षेत्र में जैसे मछली का जीवन नहीं रहता, उसी प्रकार से दयाविहीन हृदय में सत्यार्थ प्रकाशक धर्म नहीं रहता।
35. करोड़ों वर्षों तक दयाशून्य कुतप तप लो उससे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वहीं एक दिन का दया परिणाम जीव का कल्याण मार्ग प्रशस्त करता है, इसलिए मिथ्यातप का त्याग कर दया व्रत धारण करना श्रेयोमार्ग की सिद्धि का साधन है।
36. सत्यार्थ प्रकाशक धर्म दया से पूरित ध्यान अग्नि में कर्मों को भस्म करता है, न कि व्यर्थ में जीवों को स्वाहा करता है।
37. रसना की लोलुपता के वश होकर जीवों की गर्दन पर छुरा चलाना कोई परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय नहीं है।
38. यदि जीव-वध परमात्मा प्राप्ति का उपाय हो गया; तो स्वयं विचार करो नरक जाने का उपाय क्या होगा? सम्प्रदाय एवं धर्म के नाम पर जो अज्ञ प्राणी दया-धर्म का नाश कर रहे हैं वह परमात्म-पद प्राप्ति का उपाय नहीं है, मात्र अज्ञानियों की अज्ञानता का परिचय है।
39. जिन भावों से विशुद्धि का विघात हो, जो आत्मा की दुर्गति के कारण बनें वे सब भाव **अदया-भाव** हैं।
40. काम, क्रोधादि कुभावों को स्वात्म-भावों में उत्पन्न ही नहीं होने दें, क्योंकि वे भाव आत्मा को चिरकाल तक भव-भ्रमण के कारण हैं।
41. जो स्वयं पर दया भाव रखता है, वही यथार्थ में अन्य पर दया रख पाएगा।
42. जिस व्यक्ति को विषय-कषाय रुचिकर लग रहे हैं वह क्रूर प्राणी है। वह न स्वयं पर दया रख सकता है, न अन्य किसी भव्य जीव पर ही करुणा-भाव ला सकता है। विषयी जीव के अन्दर क्या करुणा के दर्शन होंगे?

43. जो एक बार के अब्रह्म सेवन में नव कोटि जीवों की विराधना करता हो, उससे भी अधिक निज-भावों की निर्मलता का तीव्र घातक है।
44. जो विकारी इच्छाओं का दमन कर लेगा तो उसके अन्य अदया के कार्य स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे; यह बात परम सत्य है।
45. जो व्यक्ति दिन भर उदास दिखता है, वह स्वदया के प्रभाव से दिन भर प्रसन्नचित्त दिखेगा।
46. कषाय का अभाव जहाँ, वहीं **परम-दया** है।
47. कषायी के पास स्व-पर दया का अभाव देखा जाता है।
48. मन्द-कषाय में अल्प दया तथा पूर्ण कषाय के समाप्त होने पर पूर्ण **दया-धर्म** प्रकट होता है।
49. विभिन्न अनेकानेक विकल्पों का समूह जीव के अंतरंग विशुद्ध-भावों का विघातक है, आत्म-दया से रहित परिणाम जीव के लिए क्षण-क्षण में कष्टप्रद होते हैं।
50. पर घर में स्त्री, नदी के किनारे का वृक्ष, मंत्री-शून्य राज्य जैसे विनाश को प्राप्त होते हैं वैसे ही दया-रहित धर्मात्मा नाश को प्राप्त होता है।
51. **दयाधर्म जहाँ होगा वहाँ वात्सल्य मैत्री-भाव की पावन-पीयूष वर्षा होगी,** शत्रुता, द्वेषबुद्धि की विष-वर्षा वहाँ नहीं होगी।
52. **करुणाभाव** के सद्भाव में ही सर्व-संबंध मधुरता को प्राप्त होते हैं।
53. जहाँ माधुर्य भाव है, वहीं **मैत्री-भाव** है।
54. दयाधर्म के पालने में ही सम्पूर्ण धर्म पलते हैं शिशुवत; जैसे बालक पालने में पलता है।
55. स्वच्छ-श्वेत या अन्य कोई अनेक प्रकार के वस्त्रों के धारण करने से धर्म नहीं आता, धर्म तो स्वच्छ निर्मल भावों से आता है।
56. शुद्ध आहार, विचार, वाणी की पवित्रता से धर्म का अंतःकरण में प्रवेश होता है।
57. विद्वेष, जाति, पंथ, सम्प्रदाय के आग्रह में क्रूरता का जन्म होता है, धर्म का नहीं।
58. दया शब्दों के साथ आचरण में भी आना चाहिए।
59. दयावान प्राण-हरण करने वाले हिंसकों के भी प्राणों की रक्षा करता है।

60. जो दयावान होते हैं; वे सम्यक्-नीतिवान भी होते हैं।
61. उन-क्रूर प्राणियों पर भी क्रूर-भाव मत लाओ जो सामने ही जीवों का घात कर रहे हैं।
62. दयालु प्राणी किसी के द्रव्य-प्राणों का घात तो करता ही नहीं, अपितु वह तो भावों का भी घात नहीं करता।
63. दयालु प्रतिक्षण सावधानी रखता है कि मेरे किसी भी कृत्य से किसी अन्य भिन्न पुरुष या प्राणी के परिणाम क्लेश को प्राप्त न हो जायें।
64. करुणा-दयाशील जीवों से ही धर्म, समाज, देश, राष्ट्र तथा विश्व रक्षित है।
65. जिसका हृदय करुणा, दया से आर्द्र है, वे ही विश्व-बन्धुता का पाठ विश्व को पढ़ा सकते हैं।
66. सम्प्रदाय विशेष का उपासक विश्व-बन्धुत्व की स्थापना नहीं कर सकता, क्योंकि सम्प्रदाय का राग हिंसा को जन्म देता है, मैत्री-भाव को नहीं।
67. दया-भाव की करो उपासना जिसमें प्राणिमात्र को आनन्द है, सम्प्रदायवाद को छोड़ो उसमें संक्लेशता है, अन्धविश्वास है।
68. सम्पूर्ण सम्प्रदायों का एक पवित्र स्थान हो और वह है **दया तीर्थ**। जिसका न कोई धाम-उपाश्रय, एकमात्र आत्मविशुद्ध-परिणाम, प्राणिमात्र की रक्षा के परिणाम तथा सम्पूर्ण पंथों से अतीत 'सत्त्वेषु-मैत्री' का दिव्य-नाद।

13

सत्यार्थ-सूत्र

दम (संयम)

1. मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष की विरति **दम-संयम** है।
2. जिनके पास **संयम** है, लोक में वे ही लोग विश्वास के पात्र हैं।
3. दम (संयम) के अभाव में कितना ही श्रेष्ठ कार्य कर ले व्यक्ति, परन्तु वह संसार में पूज्यता को प्राप्त नहीं कर पाएगा।
4. जिन्होंने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली, जगत् की किसी भी वस्तु पर जिनकी राग-द्वेष बुद्धि नहीं है; वे नर धन्य हैं, विश्वास के पात्र हैं।
5. लोक उन्हें सिंहासन ही नहीं, अपितु हृदयासन पर विराजमान कर श्रद्धा-सुमन से उनकी पूजा करता है। जो इन्द्रिय जय है।
6. संसार के चक्रीपद की विभूति त्याग कर देना, परन्तु अपने चारित्र का नाश नहीं करना।
7. सम्पत्ति तो पर-वस्तु है वह पुण्योदय से प्राप्त होती है, पर चारित्र आत्म-गुण है।
8. सम्पत्ति पुनः प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु चारित्र की प्राप्ति इतनी सरल नहीं है।
9. संसार के मोहपूर्ण सम्पूर्ण कार्य मात्र भव-वृद्धि के ही कारण हैं, दुर्गति में सहायक हैं, महा कष्टप्रद हैं।
10. एकमात्र चारित्र गुण ही ऐसा है जो संसार के समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है, आत्मा को परमात्मा बनाता है। सामान्य प्राणी को भी महान् बना देता है।
11. आत्म-साधना में इन्द्रिय-कषाय का दमन आवश्यक अङ्ग है; इसके दमन के बिना किसी भी साधक की गति वर्धमान नहीं हो सकती, इसीलिए आत्म-हितैषी साधक के लिए प्रधान अङ्ग **इन्द्रिय-दमन** ही है।
12. धर्म व यश का रक्षक **दम (संयम) भाव** ही है।
13. क्या आप विश्व-पूज्यता की भावना रखते हैं? यदि विश्व से पूज्यता चाहते हो तो चारित्र को पूर्ण सुरक्षित रखो।

14. यदि आपका संयम निर्दोष-निर्मल है, विश्व की कोई भी शक्ति आपकी पूज्यता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकती है, आपकी पूज्यता नष्ट नहीं कर सकती है।
15. विषय-विष का प्रत्याख्यान करो, इन्होंने बड़े-बड़े दिग्गजों के भी ब्रह्मधर्म का हरण कर लिया और नरक गर्त्त में डाल दिया।
16. सागरों पर्यन्त तक नरक-वेदनाओं, यातनाओं की पीड़ा से आत्मरक्षा की भावना है तो विषय-कषाय से दूर हो जाओ।
17. जहाँ इन्द्रिय और कषायों का दमन है, वहीं जीवन में चमन है।
18. त्रिकाल त्रिलोक पूज्यता वहीं प्राप्त होती है, जहाँ मन-इन्द्रियों का दम है।
19. हिमालय की चोटी पर चढ़ने वाले, सिंह की मूँछ, नाग की मणि हरने वाले बहुत मिल सकते हैं; परन्तु विषयों का दमन करने वाले सत्यार्थ वीर बहुत कम हैं।
20. सागर की बूँदों व आकाश के तारों की गणना करना फिर भी सरल हो सकता है, परन्तु इन्द्रिय विषय लोलुपी के कुटिल भावों को समझना बहुत कठिन है।
21. विषयी बाँस की जड़ जैसे वक्र-भावों से भरा होता है, उसका बाह्य-जीवन भिन्न दिखता है और आंतरिक जीवन भिन्न होता है।
22. जहाँ आशाओं का दमन है, वहीं साधना का जन्म है।
23. यदि आप आत्म-साधना के पवित्र मार्ग को प्रशस्त करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का दमन करो।
24. द्वन्द्व निरोध किए बिना आत्म-साधना में कोई भी पुरुष उत्तीर्ण नहीं हो सकता है।
25. नेत्रों का दमन आत्म-रमण का परम सहकारी कारण है और नेत्रों का भ्रमण ही चित्त भ्रमण का साधन है, इसीलिए साधक पुरुष के लिए अपने नेत्र नासाग्र रखना चाहिए और तिरिया अथवा अन्य भोग-जन्म सामग्रियों के अवलोकन का त्याग कर देना चाहिए।
26. चित्त की विशुद्धि चाहिए, तो विशुद्ध चित्र देखो।
27. भोग का भोग ही मात्र कष्टप्रद कर्मबन्ध का कारण नहीं है, अपितु भोग-भावना भी जीव को विभिन्न प्रकार के दुःखों को देने वाले कर्मबन्ध का कारण है।
28. आपको स्वयं ही निर्णय लेना होगा कि मुझे संसार भ्रमण तथा उसके दुःखों से

आत्मरक्षा करनी है, तो भोग और भोग-भावना दोनों से ही पूर्ण रूपेण आत्म-रक्षा करनी है।

29. एक-एक इन्द्रिय विषयों की लिप्सा से बड़े-बड़े प्राणी लोक में बड़े-बड़े कष्टों को प्राप्त हुए हैं, तो फिर मानव तू विचार कर—पाँचों ही इन्द्रिय सुखों की तीव्र लिप्सा तेरे अन्दर है फिर तेरा क्या होगा?
30. दुःख से बचना है तो इन्द्रिय सुखों का दमन करो।
31. आकर्ष से आकर्षित मत होना, क्योंकि पाँचों ही इन्द्रियों के सुख (भोग) बहुत बड़े आकर्षण का केन्द्र हैं।
32. जब तुम स्वयं बकरी, मछली, सुअर, मुर्गी आदि बनकर कसाई की छुरी से काटे जाओगे तब आपको कष्ट का वेदन होगा।
33. जो इन्द्रिय व मन का दमन करता है वह चर्चा से नहीं स्व-चर्या से श्रीजिन शासन की प्रभावना करता है।
34. वही सच्चा प्रभावक है, जो कि स्व-साधना में लवलीन रहे।
35. वे ही लोग लोक में यश, उदयश्री और सर्वलोक मान्य सम्मत हुए हैं जिन्होंने इन्द्रिय- कषायों का दमन किया है।
36. वे ही मनुष्य धन्य हैं जिन्होंने विषय-कषायों की कर्दम (कीचड़) से आत्म-वस्त्र को पूर्ण सुरक्षित रखा तथा श्री-स्त्री से स्व को अप्रभावित किया है।
37. जगत् की विभूति की जो महिमा नहीं है वह स्व-चारित्र एवं यश की महिमा है।
38. प्राणों के वियोग जैसा संकट भी क्यों न आ जाए, परन्तु फिर भी अपने चारित्र और यश की रक्षा करना, उसका अन्त नहीं करना।
39. जो जीवन की अन्तिम श्वास तक अपने संयम को पूर्ण सुरक्षित रखता है तथा दम (संयम) के साथ जो मरण को प्राप्त करता है, वह द्रव्य-प्राणों से रहित होने पर, उसका शरीर न भी रहे फिर भी वह अपने चारित्र प्रतिष्ठा से सर्वकाल जगति पर जयवंत रहता है।
40. जप-तप आदि सभी व्रत वहीं शोभा पाते हैं जहाँ इन्द्रिय-कषाय-मन का दमन है। इन्द्रिय दमन जहाँ नहीं है वहाँ कोई भी व्रत, तप, संयम नहीं है।
41. जिनके जीवन में प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का दमन है, उन नर श्रेष्ठों का जीवन ही चमन है।
42. आत्म-सुख-शान्ति की भावना है तो विषय-कषायों का दमन करो, क्योंकि ये विषय सेवन ही भव-भव में भ्रमण करा रहे हैं।

43. दमवान संयमी पुरुष स्वर्ग, मोक्ष को प्राप्त करता है और असंयमी नरक-तिर्यञ्च गति को प्राप्त होते हैं। दोनों अवस्थाओं को जानकर स्वप्रज्ञा से निर्णय करें कि मुझे क्या करना चाहिए?
44. **संयम महानिधि** है; वह जिसके पास है वह इहलोक व परलोक में सुख, श्रीसम्पन्न होता है, इसलिए प्रज्ञजनों को प्राणों की चिन्ता न करते हुए स्व-संयम की रक्षा करना चाहिए।
45. **संयमभाव** लोक का सर्वश्रेष्ठ भाव है।
46. जब-जब इन्द्रिय दमन के परिणाम स्व के अन्दर जाग्रत हों तो स्व की प्रशंसा स्वयं ही कर लेना चाहिए।
47. **दम** को प्राप्त करने का लक्ष्य है, तो वस्तु-स्वभाव का चिंतन अनिवार्य है।
48. वस्तु-स्वभाव के चिंतन बिना सफल दमीजीवन असंभव है, क्योंकि मोह-उत्पत्ति के साधन रागी के लिए अनेक हैं।
49. वस्तु स्व-स्वभाव के अधीन है, पर के लिए वह न मनोज्ञ है न अमनोज्ञ।
50. मनोज्ञता, अमनोज्ञता व्यक्ति के राग-द्वेष के अधीन है, जिसे जिसमें राग होता है उसे वह मनोज्ञ और जिसे जिसमें द्वेष होता है उसे वह वस्तु अमनोज्ञ प्रतीत होती है, पर वस्तु तो जो है सो है।
51. स्व-पर विवेक का अवलोकन तत्त्व-निर्णय के लिए आवश्यक है।
52. तत्त्व-निर्णय से विरक्ति भाव का जन्म होता है, फिर उससे इन्द्रिय-दमन सहज होता है।
53. धन्य हैं वे नर जिन्होंने बाल वय में ही जीवन के साथ संयम को समझ लिया और विषयों से विरक्त होकर रत्नत्रय धर्म को स्वीकार कर लिया।
54. ऐसे भावलिङ्गी सच्चे-वीतरागी दमियों के श्रीचरणों में कोटिशः करो प्रणाम, क्योंकि उनकी वन्दना से चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय होता है।
55. साधक को आत्म-सुख एवं संतोष वहीं प्राप्त होता है, जहाँ इन्द्रिय-सुख व विषय-कषाय का दमन है।
56. दमभाव को प्राप्त जीव कुमार्ग पर आँख उठाकर भी नहीं देखता, क्योंकि सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का मूल कारण असंयम-भाव है।
57. बिना संबन्ध के भी विश्व में विश्वास का पात्र यदि कोई है तो वह संयमी है।

58. जीव-संयम की महिमा विशाल है, सर्व-जगत् संयमी जीव की भक्ति-पूजा विश्वास के साथ करता है।
59. आक्रोशपूर्ण दूसरों के द्वारा कथित शब्दों को भी शान्त भाव से सुनो, उन्हें सुनकर प्रति-उत्तर की भावना का भी दमन करो। यह आपकी समता की पहचान है।
60. स्व की प्रशंसा, अन्य की निन्दा सुनकर हर्ष-विषाद का दमन करो, क्योंकि दोनों सत्य नहीं, सत्य तो स्वरूप की चर्चा है।
61. आत्मप्रशंसा सुनने की भी आकांक्षा मत करो, क्योंकि यह भी नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।
62. पर के अवगुण भी किसी से मत कहो, क्योंकि इससे आपकी अवनति निश्चित है।
63. संयम को धारण करो, गंभीर बनो।

14

सत्यार्थ-सूत्र

त्याग

1. अंतरंग में उठती विषय-कषायों की लहरों का त्याग करो, क्योंकि ये उभय-लोक में कष्ट देने वाली हैं।
2. जैसे भूचाल से भवन भूमिगत हो जाता है; वैसे ही विषय-कषाय के द्वारा शिखर पर पहुँचा व्यक्ति भूमिगत हो जाता है।
3. उस प्रवृत्ति का शीघ्र त्याग कर देना चाहिए जो आपको मानसिक, शारीरिक पीड़ा से पीड़ित करे तथा लोक में यश का घात करे।
4. जिसका आप त्याग कर चुके हो अब उसके स्मरण का भी त्याग कर दो, क्योंकि पापों की स्मृति भी पाप बंध का कारण है।
5. धन-धान्यादि बाह्य और क्रोध-मानादि कषाय अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना **त्याग** है।
6. दिगम्बर मुनि आदि मोक्षमार्गी पात्रों को दान देना भी **त्याग** है।
7. जिसके **दम संयम-भाव** होगा, उसके ही **त्याग भावना** का जन्म होगा।
8. व्यक्ति परिग्रह का संचय भोग के लिए करता है, पर जहाँ संयम धारण कर लिया है फिर वहाँ भोग और भोग-भावना कहाँ?
9. निर्वेग-भाव त्याग को जन्म देता है।
10. योगी एकमात्र आत्म-संवित्ति का आनन्द लेता है, उसे आत्म-द्रव्य से भिन्न अन्य किसी द्रव्य की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।
11. साधना के मार्ग में श्री (धन), स्त्री (नारी) की कोई आवश्यकता नहीं होती, वहाँ एकमात्र परम अद्वैत भाव का समरस पान किया जाता है।
12. मठ-मंदिर, तीर्थक्षेत्र का राग भी आत्म-साधक के लिए अप्रयोजनभूत है।
13. ज्ञानी-योगी एकमात्र निज ज्ञायक को स्वीकारता है शेष का बुद्धि-पूर्वक त्याग कर देता है।

14. संसार के सम्पूर्ण जीवों में परम सुखी यदि कोई जीव है तो वह आकिञ्चन्य स्वभाव में लीन साधु पुरुष मात्र है।
15. **त्याग परम धर्म** है।
16. त्याग के बिना समाधि की लीनता नहीं हो सकती।
17. तिल-तुष मात्र भी पर-पदार्थ में ममत्व रहेगा तब तक समाधि की संवित्ति नहीं हो सकती, समाधि के लिए पर-पदार्थों से पूर्ण दूर होना अनिवार्य है।
18. वे लोग महादुःखी हैं जो पर-वस्तु का संग्रह करना तो जानते हैं, परन्तु दान देना नहीं जानते।
19. दान देने का जो आनन्द है उसे कृपण नहीं जानता, उसे तो पवित्र हृदयी दाता ही जानता है।
20. जो पर को दान देता है; उसे कभी याचना नहीं करनी पड़ती।
21. स्वच्छता संग्रह-भाव में नहीं आती।
22. जैसे जल भरे बादल काले होते हैं और वर्षा होते ही स्वच्छ हो जाते हैं, इस प्रकार पर-पदार्थों के संग्रह का त्याग करने से भावों में स्वच्छता आ जाती है।
23. अपने जीवन में उन कारणों का शीघ्र त्याग कर दो जो आपके धर्म, धन और देह के घातक हैं।
24. जो व्यक्ति संचय के कारणों के त्याग में प्रमाद करेगा उसका सर्वस्व नाश शीघ्र होगा, जैसे कोई रोगी औषधि सेवन प्रमाद करता है तो शीघ्र ही वह मृत्यु के द्वार पहुँचता है।
25. भाव ही संसार-वर्धक है और भाव ही संसार-नाशक है।
26. अहो प्रज्ञ! स्व-भावों का करो परीक्षण प्रतिक्षण, वे किस ओर जा रहे हैं, शुभ या अशुभ?
27. अशुभ-भाव संसार में तीव्र दुःख के कारण हैं, आत्मसुख चाहिए तो अशुभ-भावों का पुरुषार्थपूर्वक त्याग करो।
28. त्याग से जीव महान् बनता है।
29. बिना त्याग के लोक व्यवहार भी शुष्क हो जाता है, परमार्थ तो प्रारंभ ही नहीं होता है, इसलिए दृढ़ता से त्याग-धर्म का पालन करो।
30. जीवन उन लोगों का ही यशवान होता है जो अपनी इच्छाओं को सीमित कर अपनी सम्पत्ति पर-हित में व्यय करते हैं।

31. दीन-हीन जनों के हित में अपना सर्वस्व जो समर्पित कर देता है; उसे यशःकीर्ति स्वयं कण्ठहार डालने खड़ी हो जाती है।
32. इच्छाओं का त्याग ही सबसे बड़ा **श्रेष्ठ त्याग** है।
33. परभावों में ले जाने वाली इच्छायें ही होती हैं।
34. त्याग करने वाले से बड़ा कोई अन्य सम्माननीय नहीं होता है।
35. जैसे सिर से भार उतर जाने पर पुरुष शान्ति का अनुभव करता है वैसे ही श्रेष्ठ दानी पुरुष पर-वस्तु धन-धान्यादि द्रव्यों के त्याग करने पर स्वयं हल्कापन तथा शान्ति का वेदन करता है।
36. आत्मा को पीड़ित करने वाला महाशत्रु **संकल्प-विकल्प भाव** है।
37. जिन निमित्तों से राग-द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं उन निमित्तों सहित संकल्प-विकल्प भाव का त्याग करो, इसी में **आत्मशान्ति** है।
38. उन भावों का शीघ्र त्याग करो; जो भाव बौद्धिक वैभव के विनाश के कारण बन रहे हैं।
39. **तनाव** बुद्धि का घातक है, बुद्धि का विनाश सम्पूर्ण जीवन की उन्नति का विनाश समझना।
39. प्रज्ञा की निर्मलता तभी प्रकट होगी जब तत्त्वज्ञ प्राणी, आत्म-ज्ञान से भिन्न जो-जो पर-पदार्थ हैं उनके प्रति वर्तमान-भूत-भविष्य की राग बुद्धि का परिपूर्ण त्याग कर दे।
40. जो मोह बुद्धि विलीन कर लेता है, वही **साधक** भगवत्ता को प्राप्त करता है।
41. उसका भी त्याग करो जो त्याग करने का भाव आपको बार-बार कष्ट दे रहा है।
42. जो व्यक्ति संकल्प लेकर कार्य पूर्ण नहीं कर पाते वे बेचारे मानसिक पीड़ा से बहुत दुःखी होते हैं। उनकी वेदना उन्हीं के गम्य है, यदि वे विकल्पों के बाहर नहीं आ पाते तो आत्मघात कर लेते हैं।
43. जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, डाह, संकल्प-विकल्प तेरे अंदर हैं उनका बुद्धि-पूर्वक त्याग करो और सहजता, सरलता, भद्रता को प्राप्त करो, यदि स्वहित-भाव जाग्रत है तो।
44. धन-धान्य-धरा का त्याग करने के उपरान्त भी जीव को बहुत कुछ और त्याग करना अवशेष होता है, वह है त्याग के राग का भी त्याग।

45. त्याग के बिना जीवन नहीं, त्याग के बल से प्रकृति का सन्तुलन है।
46. वस्तु का धर्म त्याग है।
47. वृक्ष फल का त्याग करता है, योगी ज्ञान का त्याग करता है।
48. प्रत्येक द्रव्य अपनी पूर्व-पूर्व पर्यायों का त्याग करते हैं, तभी तो नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वस्तु-व्यवस्था व्यवस्थित है।
49. त्याग के बल पर विश्व में यश टिका है।
50. जो जितना त्यागी होता है, वह उतना ही यशवान होता है।
51. स्व-पर कल्याण का साधक त्यागी पुरुष ही है।
52. ग्रहण का भाव ही व्यक्ति की दीनता-हीनता का जनक है।
53. दान सुपात्र को देना। दान देने के पहले अपात्र, कुपात्र की परीक्षा कर लेना।
54. आपके द्वारा देय द्रव्य से धर्म संस्कृति, संस्कार की रक्षा होनी चाहिए।
55. यदि दाता का द्रव्य प्राप्त कर कोई अशुभ कार्य करता है, तो उसका कुफल दाता को भी भोगना पड़ेगा। द्रव्य भी गया और दुर्गति भी हुई, ऐसा कार्य कभी नहीं करना।
56. त्याग करके मन हर्षित होना चाहिए।
57. पात्र ने आपका उपकार किया है कि आपको लोभ कषाय कृश करने का अवसर दिया है।
58. वे नर इस धरा पर धन्य-धन्य-धन्य हैं, जो स्व-सम्पत्ति का उपयोग पर की विपत्ति पर करते हैं।

15

सत्यार्थ-सूत्र

समाधि

1. प्रशस्त शुक्ल व धर्म्यध्यान **समाधि** है।
2. समाधि के बिना विश्व की सम्पूर्ण साधनायें निर्वाण प्राप्ति में अकिंचित्कर हैं।
3. निर्वाण की प्राप्ति जब भी होगी तब वह समाधि अर्थात् श्रेष्ठ ध्यान से ही होगी।
4. ध्यान के बिना आत्मसिद्धि नहीं हो सकती है।
5. आत्मसिद्धि का साधन **समाधि** है।
6. समाधि के बिना आत्मसिद्धि सम्भव नहीं।
7. सम+धी=समाधि, अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति जिसकी साम्य-बुद्धि होगी उसी की समाधि होगी।
8. सम अर्थात् एकीभूत निजयोग को एक कर **आत्मोन्मुख** होना समाधि है, परभावों से विमुख होकर आनन्द का जीवन **समाधि** है।
9. अज्ञ प्राणी समाधि का अर्थ जल समाधि, अग्नि समाधि इत्यादि प्रकार से समझते हैं, जबकि जल-अग्नि में कूदकर, पर्वत से गिरकर, मरण करना समाधि नहीं कुमरण है, अज्ञानपूर्वक मरण है।
10. धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान पूर्वक जो मरण करता है वह **समाधि** है अथवा तत्त्व निर्णय के साथ शान्त-भाव से जो आयु पूर्ण करता है वह **समाधि** है।
11. जितेन्द्रिय जीव ही ध्यान-समाधि की साधना करने के अधिकारी हैं, इन्द्रिय-विषय-लोलुपी समाधि को प्राप्त नहीं होते।
12. आर्त-रौद्रध्यान से रहित, प्राणिमात्र के प्रति समत्व का भाव, जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, कंचन-काँच में, मान-अपमान में जो साम्यभाव है, उसका नाम **समाधि** है।
13. समाधि का आनन्द एकमात्र योगी के अनुभवगम्य है।

14. जहाँ जगति के सम्पूर्ण विषयानन्द समाप्त हो जाते हैं, तब योगी की समाधि का अतीन्द्रिय आत्मानन्द प्रारंभ होता है।
15. वह एक ऐसा आनन्द है जो इन्द्र-नरेन्द्र-अहमिन्द्र के पास भी नहीं है।
16. समाधि इन्द्रिय-भोगों से शून्य तथा कषाय से रहित होती है।
18. स्व-से-स्व का मिलन कराने वाली साधना ध्यान है।
19. बिना ध्यान सिद्धि के आत्मसिद्धि सम्भव नहीं है, इसलिए प्रत्येक साधक को अन्य साधनाओं से अधिक ध्यान-साधना की वृद्धि अनिवार्य रूप से करनी चाहिए।
20. सम्पूर्ण लौकिक एवं पारमार्थिक सिद्धियाँ ध्यान-समाधि से प्राप्त होती हैं।
21. जब साधक के चित्त में पूर्ण आकांक्षाओं से शून्यता प्रविष्ट होती है तब **समाधि** प्रारम्भ होती है और उस समाधि की अनुभूतियाँ अवाच्य होती हैं।
22. सम्पूर्ण तत्त्वों के सार में कोई पूर्ण सारभूत सार है; तो वह है **ध्यान-समाधि**।
23. समाधि के बिना आत्मसिद्धि गाय-सींग से दुग्धपान वत ही है।
24. गाय-सींग से दुग्ध नहीं निकलता उसी प्रकार समाधि साधना के बिना मुक्ति नहीं मिलती।
25. काय एवं कषाय का त्यागी ही समाधि-साधना का साधक हो सकता है।
26. जिसके अन्दर देह का राग तथा कषाय की तीव्रता है उसका चित्त स्थिर नहीं हो सकता।
27. अस्थिर चित्त सहित तीन-लोक, तीन-काल में समाधि नहीं हो सकती।
28. समाधि की सिद्धि के लिए अनिवार्य अंग सुसंस्कार, सुसंगति, सुसाधना, इन तीनों का संयोग जिस साधक के पास है, वही श्रेष्ठ समाधि की सिद्धि को प्राप्त करता है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को इन तीन की प्राप्ति का पुरुषार्थ सतत करते रहना चाहिए।
29. अंतरंग विशुद्धि के लिए बहिरंग निमित्त भी पवित्र होना अत्यावश्यक है।
30. जहाँ संगति-संस्कार-साधना तीनों हीन होते हैं वहाँ पर नियम से समाधि का अभाव होता है।
31. अशुभ-भावों के संयोग में पवित्र-ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

32. ममत्व-भाव समाधि का प्रबल-शत्रु है।
33. जहाँ-जहाँ ममत्व खड़ा है, वहाँ-वहाँ **समाधि का अभाव** है।
34. ममत्व का जहाँ अभाव है, वहाँ **समाधि का प्रादुर्भाव** होता है।
35. निर्वाण-दीक्षा धारण किए बिना समाधि नहीं और समाधि के बिना निर्वाण नहीं।
36. समाधि की सिद्धि में प्रसिद्धि से तो पृथकत्व की आवश्यकता है और समत्व के समीप रहने की अत्यन्त आवश्यकता है।
37. जो साधक समत्वभाव की साधना में कुशल हो जाता है, उसे **समाधि साधना** सरल हो जाती है।
38. समाधि की गहराई के लिए स्वाध्याय की गंभीरता अनिवार्य है।
39. साधक की कर्तव्य-निष्ठता व ज्ञान-गूढ़ता ही ध्यान को गूढ़ बनाती है।
40. धैर्यशीलता समाधि का प्रबल कारण है।
41. अधीर पुरुष का चित्त स्थिर नहीं होता, यही कारण है कि नारी पर्याय में परम समाधि की सिद्धि नहीं होती है।
42. समाधि निर्वाण का साक्षात् कारण है।
43. स्त्रियों के अन्दर भीरुता और अधीरता दो ऐसे दोष हैं जिनके कारण स्त्रियों को चित्त स्थिरता की प्राप्ति नहीं होती और अस्थिर चित्त में समाधि संभव नहीं है।
44. **समाधि** वह परम उपकारी विद्या है जो मानसिक, शारीरिक, वाचनिक,कर्मज आदि सम्पूर्ण दुःखों से जीव को मुक्त करा देती है और ध्रुव, अचल, अनुपम, सुख में स्थिर करा देती है।
45. विश्व में अनेक साधक समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, परन्तु जब-तक अंतरंग-बहिरंग परिग्रह का परिपूर्ण त्याग नहीं करेंगे तब-तक समाधि की सत्यार्थ सिद्धि नहीं हो पाएगी।
46. स्व-पर भेद-विज्ञानी जीव ही समाधि को प्राप्त होता है।
47. स्व-पर भेद-विज्ञान किए बिना जीव समाधिस्थ नहीं हो सकता।
48. षट्काय के जीव, षड्द्रव्य, सात-तत्त्व, नौ पदार्थों के प्रति साम्य-रुचि जहाँ है वहीं समाधि है, ऐसा तत्त्व-ज्ञानियों ने कहा है।
49. साम्य-परिणति तभी प्रकट होगी, जब जीव के अन्दर वस्तु स्वभाव पर लक्ष्य जाएगा। **बिना लक्ष्य के कार्य नहीं होता है**।

50. साध्य-सिद्धि साधन के अभाव में कभी नहीं होती; यह ध्रुव सिद्धांत है। **मोक्षतत्त्व** साध्य है, **समाधि** (ध्यान) साधन है।
51. श्रेष्ठ साध्य की सिद्धि, श्रेष्ठ साधनों से ही होती है। मोक्ष श्रेष्ठ साध्य है, सम्यक्-ध्यान श्रेष्ठ साधन है।
52. परम समाधि में स्थित साधक आत्मस्थ होकर परम-अद्वैत का अनुभवन करता है, वहाँ उसे अन्य आत्मा तो क्या परमात्मा का भी भाव नहीं होता। उसे तो मात्र एकत्व-विभक्त्व निज भगवानात्मा का ही अनुभवन होता है। यही **परम समाधि** है।
53. जहाँ ध्याता-ध्यान-ध्येय का विकल्प समाप्त हो जाता है, साध्य-साधक भाव का विकल्प भी नहीं होता, एकमात्र सहज ज्ञायक का ही आलम्बन शेष रहता है। ऐसी परम समाधि में लीन साधक निज-भगवानात्मा का ही आनन्द लेता है।
54. लौकिक प्रसिद्धि की भावना के भाव से जिनकी आत्मा विघात को प्राप्त हो रही है, उन्हें समाधि की उपलब्धि तीन काल में सम्भव नहीं है।
55. समाधि साधक के लिए सर्वप्रथम कायिक व काषायिक अस्ति तत्त्व का समापन करना होगा तब कहीं समाधि-साधना के भाव की उत्पत्ति होगी।
56. सम्पूर्ण विकल्पों से पूर्ण परे होने पर ही समाधि होगी, अन्य कोई उपाय समाधि-साधना का नहीं है।
57. समाधि साधक के लिए अशन-आसन और निद्रा पर नियंत्रण करना बहुत ही आवश्यक है।
58. जो साधक भोजन पर नियंत्रण रखते हैं, सम्पूर्ण आसनों को सहज लगा लेते हैं और निद्रा पिशाचनी के वश नहीं होते, वे ही श्रेष्ठ साधक समाधि-साधना के प्राणों की रक्षा करते हैं।
59. विषय लम्पट, आशाओं से युक्त, कषायों में निमग्न पुरुष यदि समाधि या मोक्ष-सुख चाहता है, तो वह आकाश-पुष्प की उत्पत्ति करना चाहता है।
60. जैसे आकाश का पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार से विषय-कषाय से युक्त जीव को समाधि नहीं होती।
61. काम, क्रोध, मिष्ट-भोजन, पर की प्रशंसा, स्व-पूजा के परिणाम समाधि-साधक के लिए विष-तुल्य हैं।
62. भवातीत होने की विद्या **सम्यक्-समाधि** है।

63. जो साधक आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे ही **सम्यक्-समाधि** साध पाते हैं।
64. शुद्ध-प्रासुक अल्प-शाकाहार करे, मांस आदि अभक्ष्य सेवन का पूर्णतः त्याग करे। तामसिक, गरिष्ठ, मादक-द्रव्य का सेवन न करे।
65. आहार की शुद्धि चित्त-शुद्धि को प्रभावित करती है।
66. शुद्धाहारी ही समाधि-साधना का अधिकारी है, अभक्ष्य भोजी कभी भी शुद्ध-समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता है।
67. निद्रा-पिशाचनी के वश हुआ जीव जगत् क्लेश को प्राप्त हो रहा है।
68. जैसे प्रेत से पीड़ित व्यक्ति विवेक-बोध शून्य हो जाता है उसी प्रकार निद्रा से पीड़ित व्यक्ति विवेक-बोध शून्य हो जाता है।
69. निद्राकाल में अचेतनवत दशा हो जाती है।
70. निद्रा-तन्द्रा काल में समाधि-साधना नहीं होती है, इसलिए मुमुक्षुओं को निद्रा पर क्रमशः नियंत्रण रखना आवश्यक है।
71. आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा पर विजय प्राप्त करने हेतु आसनजय अनिवार्य अंग है।
72. उपसर्ग-परीषह के आने पर अविचलपने को वही लोग प्राप्त कर पाते हैं, जो आसनजयी होते हैं।
73. समाधि साधक के लिए आसन प्रथम साधना का अंग है।
74. आत्म-साधक के लिए आसनों की दृढ़ता अनिवार्य है।
75. आसन की चंचलता से चित्त भी चंचल होने लगता है, स्थिर-आसन से चित्त में स्थिरता सहज आती है।
76. समाधि-साधक को शक्ति के अनुसार विभिन्न आसनों में बैठकर, खड़े होकर, पद्मासन, अर्द्ध-पद्मासन, सुखासन, जिनमुद्रा आदि में ध्यान करना चाहिए।
77. आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर जो विजय प्राप्त कर गए; वे जीव भव-भ्रमण से बच गए।
78. जिन्होंने आहार, निद्रा, आसन, विषय-कषाय पर विजय प्राप्त नहीं की वे आज तक संसार में भ्रमण कर रहे हैं।
79. आत्मस्थ होने की कला **ध्यान** है।
80. जो माया-प्रपञ्च से शून्य हो, एकमात्र आत्म-कल्याण की भावना से सहित है वही एकत्व-विभक्त्व भाव से पूर्ण होता है।

81. आत्मज्ञान ही समाधि में पूर्ण सहकारी है और वह शास्त्र-ज्ञान से भिन्न है।
82. समाधि के पूर्व संयम होना अनिवार्य अंग है, बिना यम-नियम के समाधि सम्भव नहीं है, इसलिए साधक के लिए मन और इन्द्रियों को संयमित करने का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।
83. जो स्व विवेक बल से कषाय को परास्त कर देता है वह साधक चित्त-विशुद्धि को प्राप्त होता है।
84. चित्त-विशुद्धि की वृद्धि साधक को सत्यार्थ-समाधि में स्थापित कर देती है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु साधक का कर्तव्य है कि वह अपनी कषायों पर नियंत्रण पुरुषार्थपूर्वक करे।
85. विश्व मैत्री को स्थापित करने की कला समाधि है।
86. समाधि में लीन योगी के लिए ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी शत्रु के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ शत्रु-मित्र के विकल्प का ही अभाव हो जाता है।
87. सम्पूर्ण वसुन्धरा सामान्य प्रतिभासित होती है, यह योग विद्या का अपूर्व-अचिन्त्य प्रभाव है।
88. समाधिशून्य पुरुष को संयोग-वियोग प्रभावित करते हैं, परन्तु जो समाधि में लीन है उसे संयोग-वियोग किञ्चित् मात्र भी प्रभावित नहीं करते।
89. योगविद्या की लीनता ही **समाधि** है।
90. निज-में-निज को जोड़कर जीना ही योग है।
91. मन-वचन को एकाग्र कर लेना योग है।
92. योग को स्थिर कर स्वमुखी हो जाना **समाधि** है।
93. योगपूर्वक समाधि का साधक शीघ्र सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।
94. समाधि साधक के लिए समाधि के पूर्व स्वाध्याय को अभिन्न अंग बनाना चाहिए।
95. स्वाध्याय से अंतरंग अशुद्धि का क्षय हो जाता है तथा विशुद्धि का उत्पाद होता है।
96. माँ की गोद शिशु को आनन्द देती है उसी प्रकार **श्रुत** साधक-को आनन्द देता है।

16

सत्यार्थ-सूत्र

गुरु

1. गुण-गुरुता से जो पूर्ण हैं, दुर्गुणों से पूर्ण दूर हैं, पन्थों से शून्य, सत्यार्थ-पथ के नेता हैं, प्राणिमात्र के कल्याण के चिंतक हैं, भव-सागर उत्तीर्ण करने में समर्थवान हैं, वे ही **सच्चे गुरु** हैं।
2. गुरुता की प्राप्ति सद्गुणों से होती है और गुणवान् ही **गुरु** होता है।
3. गुणहीन गुरु-भाव को प्राप्त नहीं होता, गुरु बनना है तो स्वगुणों की वृद्धि करो।
4. प्रभु बनने का भाव है; तो सर्वप्रथम यह निर्णय करो कि—**श्रेष्ठ-गुरु के बिना प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं होती।**
5. पुण्यहीन को श्रेष्ठ-गुरु का समागम नहीं होता।
6. जिन्हें सच्चे-गुरु प्राप्त हो गए, वे जीव धन्य हैं।
7. वे पूर्वभव के पुण्यात्मा हैं, जिन्हें परमात्म-पद के सत्यार्थ मार्ग-दर्शक गुरु मिले।
8. जीवन के उत्कर्ष में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
9. इतिहास साक्षी है, प्रत्येक सफल पुरुष के पीछे कोई एक श्रेष्ठ प्रज्ञाशील सम्यक्-बोध देने वाले **गुरु** अवश्य होते हैं।
10. गुरु का सान्निध्य बुद्धि की उज्ज्वलता के लिए अनिवार्य अङ्ग है।
11. हेय-उपादेय का समय पर बोध-दाता **गुरु** ही होता है।
12. बिना गुरु के स्व-जीवन की वक्रता का बोध नहीं होता।
13. जीवन में सत्यता, सरलता, सहजता की उपलब्धि हेतु सच्चे-गुरु का आश्रय आवश्यक है।
14. गुरु के अभाव में सम्पूर्ण-लोक शून्य दृष्टिगोचर होता है।
15. गुरु ही ज्ञान-अंजन शलाका हैं; जो मिथ्यातिमिर से आत्मरक्षा करते हैं।
16. अंतरंग-बहिरंग शुद्धि सम्पन्न महापुरुष ही गुरु संज्ञा को प्राप्त होता है, अन्य नहीं।

17. गुरुता गुणता से वर्धमान होती है, गुणों से मण्डित आत्मा ही गुरु गुण-स्वभावी है।
18. बिना गुणों का निलय बने कोई स्वयं को गुरु कहलाए, तो वह काक को हंसपक्षी कहलाने के तुल्य जानो।
19. विषय भोग ही नहीं, अपितु विषयाभिलाषा भी जहाँ है वहाँ साधुत्व व गुरुत्व का पूर्ण अभाव जानो।
20. गुरु की गुरुता में विषयाभिलाषा को कोई स्थान नहीं।
21. धन्य-धन्य-धन्य वे गुरु भगवन्त, जिन्होंने विषयों से ही नहीं विषयाभिलाषा से भी अपनी दृष्टि मोड़ ली है।
22. गुरुत्व भाव उन्हें ही प्राप्त होता है, जो अवगुणों का पूर्ण त्याग कर चुके हैं।
23. ज्येष्ठत्व गुण के बिना गुरु की गुरुता स्थिर नहीं रह सकती।
24. गुरु का जीवन शरीर के लिए नहीं, सर्व-कल्याण के लिए होता है।
25. स्वपर-कल्याणी दृष्टि गुरु की गुरुता को उच्चता का स्पर्श कराती है।
26. जहाँ जगत् का सोच नहीं जाता; वहाँ गुरु का सोच स्थापित होता है।
27. गुरु दिव्य प्रकाशक है, बिना गुरु प्रकाश के तत्त्व-बोध नहीं होता और तत्त्व-बोध के अभाव में आत्मशोध सम्भव नहीं है।
28. आत्मबोध व आत्मशोध से भव्यजीव रूपातीत अवस्था को प्राप्त होता है।
29. जीवन विकास में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सच्चे-गुरु के बिना आत्म-विकास संभव नहीं।
30. सद्गुरु की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिसे सच्चा गुरु प्राप्त हो गया, उसे सत्यार्थ मार्गदर्शक प्रभु ही मिल गया।
31. प्रभुत्व-शक्ति की अभिव्यक्ति का मार्ग गुरु के माध्यम से ही प्राप्त होता है। यदि आत्महित आकांक्षी हो, सम्यक् तत्त्वबोध चाहिए तो किसी श्रेष्ठ ज्ञानी गुरु की शिष्यता को विनयपूर्वक सहज स्वीकार करो।
32. आत्मविकास वहीं संभव है, जहाँ स्वयं विकासशीलता हो।
33. विकसित पुरुष सभी के अन्तःकरण को आनन्द से भर देता है, उसी प्रकार से स्वयं में दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पूर्ण विकसित सच्चे-गुरु शिष्य-हृदय को श्रुत-निधि से पूर्ण विकासमय कर देते हैं।
34. आत्मज्ञान, कर्तव्य-निष्ठता, चारित्र की दृढ़ता, बुद्धिमान जीवन जीने की विद्या,

आत्मधर्मलीन परभावों से पूर्ण-उदासीन निर्ग्रन्थ-गुरु से ही मिलेगी, इसलिए निर्ग्रन्थ गुरुओं की सत्-संगति को पुरुषार्थ पूर्वक प्राप्त करो।

35. तीर्थों की वंदना कालान्तर में फलित होती है, पर तीर्थभूत गुरु की सच्ची आराधना तत्क्षण फलित होती है।
36. गुरु प्रसाद से शान्ति, श्रुत, चारित्रादि गुणनिधि तत्क्षण प्राप्त होते हैं।
37. सच्चा-गुरु गुणों से अनुराग तथा दोषों से हेय-बुद्धि उत्पन्न कराता है और मिथ्या-गुरु गुणों में द्वेष व दोषों में अनुराग उत्पत्ति की शिक्षा देता है।
38. तत्त्वार्थ उपदेशक, मिथ्यामार्ग-उच्छेदक, सन्मार्ग-दर्शक, आडम्बर-विहीन, चारित्र में लीन, स्वपर कल्याणकारी गुरु कहीं भी मिल जायें, तो स्वर्ग का त्याग कर देना; परन्तु ऐसे सद्गुरु के चरणों में लग जाना तो वह आपको सिद्धत्व का मार्ग बता देंगे।
39. कलिकाल में सद्गुरु की प्राप्ति ही सबसे बड़ा चमत्कार है।
40. आडम्बर, सम्प्रदायों के रागियों में सद्गुरु के दर्शन कहाँ? पंथ-सम्प्रदायों से पृथक्, मठ-पीठों, गिरि-उदयों से भिन्न, एकत्व-विभक्त निज-भगवानात्मा के दर्शक गुरु पंचमकाल के अन्त तक अत्यन्त अल्प संख्या में होंगे।
41. सद्गुरु वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर आत्मानुशासन ही गुरु शब्द की लाज रख पायेंगे; अन्यथा गुरु शब्द ही रो पड़ेगा कि अहो! मेरी संज्ञा को प्राप्त लोग क्या कर रहे हैं?
42. डाकू शब्द सुनकर जैसे लोगों के हृदय कंपित होते हैं, ऐसे गुरु शब्द सुनकर हृदय कंपित न होने लगे, इसलिए गुरुओं का कर्तव्य है कि वे गुरुता को सुरक्षित रखें, काम-कामिनी-कामना से अपने अन्तःकरण को सुरक्षित रखें।
43. सच्चे-गुरु अनपेक्ष उपकारक होते हैं।
44. सच्चे-गुरु पर का उपकार तो करते हैं, परन्तु बदले में कुछ भी आकांक्षा नहीं रखते हैं।
45. सच्चे गुरु एकमात्र स्वात्महित का ही सुविचार करते हैं तथा अन्य भावों से आत्मरक्षा करते हैं।
46. जीवन में गुण-गुरुता के लिए एक श्रेष्ठ सद्गुणी गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है।
47. जीवन जीने के महत्त्वपूर्ण रहस्य गुरु से ही उपलब्ध होते हैं।

48. कषायपूर्ण अंतरंग पीड़ा को गुरु चरणों में ही दूर किया जा सकता है।
49. पृथ्वी पर मनुष्य के प्रति मनुष्य का आस्था-विश्वास-श्रद्धा का कोई सम्बन्ध है, तो वह एकमात्र गुरु-शिष्य का ही सम्बन्ध है।
50. गुरु-शिष्य जैसा पवित्र सम्बन्ध मानव-का-मानव के प्रति अन्य कोई नहीं है।
51. प्रबल-पुरुषार्थ दैव की युगपतता के होने पर सद्गुरु की प्राप्ति होती है, जो जीवन की दिशा और दशा दोनों को बदलने में समर्थ होते हैं।
52. गुरु विश्वास का उपास्य होता है और शिष्य विश्वास का उपासक, यह उपास्य-उपासक भाव ही प्रभुता को प्राप्त कराता है।
53. यदि गुरु ने जीवन विकास के सूत्र दिए हैं, तो शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु के विश्वास का विघात न करे।
54. जो गुरुत्वभार, संस्कृति को सुरक्षित सँभालकर रखते हैं, वे सद्गुरु नुति के पात्र धरातल पर धन्य हैं।
55. प्रभुत्व प्राप्ति का सम्यक्-उपाय सच्चे-गुरु बतलाते हैं, बिना सद्गुरु उपदेश के स्वप्रभु की प्राप्ति नहीं होती।
56. स्वात्मतत्त्व की उपलब्धि हेतु, आगम-अभ्यास, स्वानुभव के साथ गुरु-उपदेश परम आवश्यक है।
57. शरीर स्वस्थ रखना है तो रोगी को वैद्य के लिए बालकवत रोग का कथन कर देना चाहिए और आत्मा को स्वस्थ रखना है तो शिष्य को बालकवत अपने मानसिक-विकल्पों को गुरु के समक्ष प्रस्तुत कर देना चाहिए।
58. वे साधक श्रेष्ठ-सुमरण, समाधिमरण को प्राप्त होते हैं जो श्रीगुरु के चरणों में अपने कृत पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर लेते हैं।
59. वे कर्ण-कर्ण नहीं, वे कीड़े-मकोड़ों के रहने के छिद्र हैं जो अज्ञानियों से सच्चे-गुरु की निंदा सुन लेते हैं।
60. कर्ण तो सुकर्ण वे ही होते हैं; जो सद्धर्म, जिनवाणी, जिनदेव, सद्गुरु की स्तुतियाँ गुणकीर्तन सुनते हैं।
61. आत्मज्योति को प्रकाशमान करने के लिए गुरु प्रबल निमित्त हैं।
62. शिष्य को ज्योतिर्मय जीवन के लिए गुरु का अनुशासन अत्यंत आवश्यक है।
63. स्व-आगमोक्त कर्तव्यों का पालन करना एवं शिष्यों से भी आचरण का निर्मल पालन कराना गुरुओं का कर्तव्य है।

64. सिद्धांतों का बोध, आचाराङ्ग की प्रवृत्ति **गुरु** आलम्बित है।
65. लोक में शिष्यों की प्रवृत्ति गुरुओं के अनुकूल देखी जाती है। **जैसा गुरु करेगा वैसा ही शिष्य करता है।**
66. सच्चा शिष्य, गुरु-अनुसारणीप्रज्ञा वाला होता है, इसलिए सम्पूर्ण मर्यादाओं का गुरु को ध्यान रखना चाहिए।
67. गुरुजन यदि स्व-कर्तव्य से च्युत हों तो उन्हें अपने आगम-प्रायश्चित्तशास्त्र में कहा हुआ प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए, बिना प्रायश्चित्त के एक पल भी व्यतीत नहीं करना चाहिए।
68. बिना प्रायश्चित्त के जीने वाले चाहे गुरु हों या शिष्य दोनों ही कुमरण को प्राप्त होते हैं।
69. चित्त की शुद्धि का साधन यदि कोई है तो वह है प्रायश्चित्त और वह गुरु के सान्निध्य में ही होता है।
70. यदि किसी के गुरु की समाधि भी हो गई है, तो वह अन्य किसी श्रेष्ठ गुरु से प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करे तथा विशुद्धमार्ग का उद्योतन करे।
71. जो गुरु जानकर ही शिष्यों के अपराधों की उपेक्षा करता है वह सर्व-संघ का नाश कर लेता है। श्रीसंघ के नाश से धर्ममार्ग ही नाश को प्राप्त हो जाता है।
72. धर्ममार्ग को निर्मल देखना है, तो स्व-पर के अल्प दोषों का भी प्रायश्चित्त स्वीकार करना चाहिए।
74. सच्चा शिष्य वही होता है जो विनय पूर्वक गुरु के सद्-उपदेशों को सुनकर उन्हें अमृत-तुल्य स्वीकारता है, गुरु के गुणों का कभी विस्मरण नहीं करता है, सतत गुरु के कृत उपकारों को याद करता है, तदनुकूल प्रवृत्ति भी करता है।

17

सत्यार्थ-बोध

शिष्य

1. **शिष्य** वही श्रेष्ठ होता है जो शिष्ट, सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ, गुरुभक्त, भव से भयभीत, तत्त्व-पिपासु, सरल स्वभावी, प्रमाद-शून्य एवं विद्यानुरागी हो।
2. गुरुता प्राप्ति की भावना है तो सर्वप्रथम शिष्ट-श्रेष्ठ शिष्य बनने का सम्यक्-पुरुषार्थ प्रारम्भ करो।
3. अनेक मूढ़ों के गुरु बनने की अपेक्षा एक श्रेष्ठ, चर्यावान्, ज्ञानवान्, तपोनिष्ठ, श्रद्धानिष्ठ सद्गुरु का शिष्य बनना श्रेष्ठ है।
4. विद्या प्राप्ति के लिए शिष्य बनना ही पड़ेगा, शिष्य बने बिना विद्यासिद्धि नहीं होती है, यह प्रसिद्ध है।
5. **शिष्य का प्रथम गुण गुरु-भक्ति है।** जिस गुरु से आप विद्याभ्यास करना चाहते हैं उनके प्रति आपका समर्पण भाव एवं भक्ति होना चाहिए।
6. बिना आस्था, विश्वास एवं भक्ति के विद्या की प्राप्ति नहीं की जा सकती।
7. जो आपको सच्चा बोध दे रहा है उसके प्रति आपका समर्पण होना चाहिए।
8. शिष्य की विनय देखकर गुरु प्रसन्न हो जाते हैं; तब वह प्रसन्न-चित्त से शिष्य को विद्याध्ययन कराते हैं, तो वह विद्या शिष्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाती है।
9. शिष्य का कर्तव्य है कि—वह अपने गुरु को कभी कुपित न करे, उनके प्रति विश्वासघात न करे तथा हमेशा उनकी आज्ञा का पालन करे।
10. विद्यानुरागी शिष्य को सम्पूर्ण काम-क्रोधादि विकल्पों से परे होकर सतत विद्याभ्यास करना ही श्रेयस्कर है।
11. श्रेष्ठ शिष्य वही है, जो स्व-गुरु व आगम-आज्ञा का निर्मल पालन करे।
12. शिष्य स्वप्न में भी गुरु-आज्ञा भङ्ग करने का विचार नहीं लाता तथा आगम के

शब्द-शब्द का विश्वास रखता है। ऐसा गुणवान शिष्य ही स्व-पर कल्याण में समर्थवान होता है।

13. उग्र-स्वभावी शिष्यता के अयोग्य है, क्योंकि वह प्रथम तो विद्या को प्राप्त ही नहीं कर पाता और कदाचित् वह विद्या प्राप्त भी कर ले तो उस विद्या का सम्यक्-उपयोग नहीं कर पाता।
14. अविनेय विद्या के मद में विवेकहीन होकर श्रेष्ठ ज्ञानवानों की भी अविनय करके कर्मबन्ध को प्राप्त होता है और फिर संसार-भ्रमण करता है।
15. गुरु-शिष्य के पवित्र सम्बंध से ही श्रुत परम्परा अक्षुण्ण चलती है।
16. जहाँ शिष्य की वृद्धि होती है, वहाँ धर्म एवं संस्कृति वर्धमान होती है।
17. शिष्यों का कर्तव्य है वे अपने ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि करते हुए; चारित्र गुण से निजात्मा को विभूषित करें, क्योंकि यह रत्नत्रय धर्म ही मुक्ति प्रदायक है।
18. शिष्यों के सम्यक्-पथ पर गमन करने से गुरु एवं सनातन संस्कृति की श्रीवृद्धि यशःकीर्ति वर्धमान होती है।
19. जिस देश में गौवंश एवं शिष्यसम्पदा न हो वह देश त्यागने योग्य है, क्योंकि जीवन एवं धर्म का वहाँ क्षय होता है।
20. धार्मिक, सुधी, धैर्यवान, सन्तोषी, क्षमादि गुणों से विभूषित शिष्य ही भविष्य के धर्म-संस्कृति, देश-कुल-जाति के तिलक बनते हैं।
21. प्रज्ञावान शिष्य श्रीगुरु के आसनों पर आसीन नहीं होता, गुरु के समक्ष उनसे ऊँचे आसन पर भी नहीं बैठता।
22. गुरु के समीप ऊँचा आसन भी नहीं लगाता, जंघा पर पैर रखकर नहीं बैठता, अहंकारी मुद्रा भी विनयशील शिष्य गुरु के सामने धारण नहीं करता, अपितु नम्र-वृत्ति का पालन करता है।
23. योग्य शिष्य का धर्म है कि जब गुरु समझायें तब वह जिज्ञासापूर्ण मुद्रा में गुरु के मुख-मण्डल की ओर दृष्टिपात करे तथा जब गुरु डाँटें तब विनयपूर्वक उनके चरणों में दृष्टि रखे, गुरु से वाक्-युद्ध न करे।
24. स्वगुरु व परगुरु से इतनी दूरी बनाकर चलें जिससे स्वयं के शरीर की उष्णता उनकी देह का स्पर्श न कर सके तथा देह-से-देह का संघटन भी न हो।
25. अग्नि रोटीवत् ही गुरु-शिष्य का व्यवहार होना चाहिए। गुरु से अति दूर व अति निकट का सम्बंध नहीं होना चाहिए।

26. प्रत्येक शिष्य को अपनी मर्यादा का बोध होना चाहिए।
27. धर्म-श्रवण तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन जो शिष्य गुरु-मुख से प्राप्त कर लेता है, उस शिष्य का ज्ञान प्रमाणपत्र को प्राप्त होता है।
28. गुरु के बिना ज्ञान में दृढ़-विश्वास की न्यूनता रहती है। सर्वप्रथम गुरु-मुख से ही अध्ययन करना चाहिए।
29. शिष्य मिट्टी के ढेले के समान है जिसे गुरु ज्ञान-नीर डालकर गीला करके, घट बनाकर, लोकशीश पर विराजमान कर देते हैं।
30. गुरु के पृच्छना करने पर शिष्य को शीघ्र उत्तर देना चाहिए।
31. गुरु के कुछ पूछने पर शिष्य को मौन रखना हितकारी नहीं है।
32. अल्प, मिष्ट, पथ्यकारी वचनों का प्रयोग करते हुए गुरु के कर्ण-पटल को संतोष प्रदान करना शिष्य का कर्तव्य है।
33. स्व-आसन अथवा शय्या पर बैठे ही बैठे गुरु से सूत्रपाठ तथा किसी कार्य की आज्ञा नहीं लेना चाहिए।
34. गुरु से सूत्र-बोध, कर्तव्य-कार्य की आज्ञा स्वस्थान छोड़कर ही लेना चाहिए, यह शिष्ट शिष्य की पहचान है।
35. योग्य-शिष्य प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप, मन-वचन-काय से आचार्यों आदि पूज्य-पुरुषों के प्रति विनय-भाव रखते हैं तथा उनकी निन्दा भूलकर भी नहीं करते।
36. विवेकी और ज्ञानी शिष्य गुरु के अनुकूल ही आचरण करते हैं, वे कभी भी गुरु-भगवन्त के प्रतिकूल आचरण नहीं करते हैं।
37. शिष्य का कर्तव्य है कि—वह गुरु के समक्ष व्यर्थ के वाक्यों का प्रयोग न करे। गुरु के समक्ष अहंकार, ममकारपूर्ण चर्चा न करे।
38. शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु-मुख से आगम सूत्रों को विनय पूर्वक श्रवण कर धारण करे।
39. शिष्य को गुरु पादमूल में रहकर श्रुताभ्यास पूर्ण-मनोयोग से करना चाहिए।
40. जैसे कोई सम्राट् अपने राजकुमार को राज्यपद पर आसीन इसलिए करता है कि राज्य की रक्षा हो, समृद्धि हो, उसी प्रकार शिष्य को श्रुत-सम्पदा एवं संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए।
41. जो शिष्य गुरु के प्रतिकूल प्रवृत्ति करता है, सबल क्रिया युक्त कुत्सित चर्या युक्त है, वह निश्चित ही असमाधि को प्राप्त होता है।

42. जो शिष्य शीलव्रत सम्पन्न पंच-परमेष्ठी के गुणों में अनुरक्त गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, सदा श्रेष्ठ ज्येष्ठों की विनय करता है, गुरु के पीछे-पीछे गमन करता है, गुरुजनों का अनादर नहीं करता है तथा श्रुत-विनय भावना सम्पन्न रहता है, वह नियम से श्रेष्ठ-समाधि को प्राप्त होता है।
43. जीवन में एक श्रेष्ठ-गुरु का शिष्य अवश्य बनना चाहिए।
44. जब जीवन में अंधकार होता है, तब सच्चे-गुरु सत्यार्थ-प्रकाश बनकर मार्ग-दर्शन करते हैं।
45. शिष्य की हर अच्छी-बुरी बात गुरु को ज्ञात होती है, फिर भी शिष्य पर गुरु का विश्वास होता है, क्योंकि उन्हें आस्था होती है कि यही शिष्य भविष्य में गुरुता को प्राप्त कर लोक में स्व-पर कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करेगा।
46. गुरु-शिष्य को माँ बनकर शिशुवत पालन करते हैं और गुरुता के स्थान पर स्थापित कर देते हैं।
47. गुरु के कठोर अनुशासन को प्राप्त करके गुरु की निन्दा नहीं करना, अपितु यह विचार करना कि गुरु हमारे उपकारी हैं, जो हमारे अंतरंग दोषों को निकालकर निर्दोषता की ओर ले जाने का पुरुषार्थ कर रहे हैं।
48. श्रद्धावान् शिष्य गुरु के प्रत्येक कार्य को विशिष्ट और स्व-हितकारी समझता है। वह यही दृष्टि रखता है कि गुरु मेरे उपकारी हैं।
49. सच्चा शिष्य गुरु के प्रति हमेशा आस्तिक्य रूप ही व्यवहार करता है।
50. निष्कषाय, निर्विकार, परमार्थ-तत्त्व की भावना से पूर्ण, पात्र-वात्सल्य युक्त गुरु के ही शिष्य बनना श्रेयस्कर है।
51. जो उक्त गुणों से शून्य गुरु की शिष्यता को प्राप्त करता है; वह उभयलोक में दुःख, अशान्ति, क्लेश को प्राप्त करता है।
52. गुरु का असीम-विश्वास श्रेष्ठ-सच्चे शिष्य पर होता है।
53. गुरु अपने शिष्य के अन्दर स्व को देखना चाहते हैं। जैसा बोध-बोधि का भाव मेरे अन्दर है वैसा ही मेरे शिष्य के अन्दर रहे।
54. गुरु जिन-शासन एवं श्रीसंघ का भार योग्य शिष्य को प्रदान करते हैं।
55. जैसा मैंने अपने गुरु के आशीष एवं आज्ञा से श्रमण-संस्कृति का संरक्षण किया है उसी प्रकार से वह शिष्य से अपेक्षा करते हैं कि वह श्रमण-संस्कृति का

संरक्षण एवं संवर्धन अत्यन्त विशुद्ध मनोयोग से करे तथा धर्म-धर्मात्मा के प्रति निस्पृहता पूर्वक निष्काम-वृत्ति से करे।

56. गुरु की आभा शिष्य में झलकती है।
57. प्रायः शिष्य का जीवन गुरु के जीवन का अनुकरण करता है, अतः श्रेष्ठ-गुरु के शिष्यों को गुरु-तुल्य श्रेष्ठता प्राप्त करनी चाहिए।
58. शिष्य का कर्तव्य है—कि वह जिन-शासन की प्रभावना हेतु सर्वप्रथम सम्पूर्ण-कार्यों को विराम देकर श्रीगुरु मुख से शब्दागम, तर्कागम, परमागम का तलस्पर्शी स्वाध्याय करे, उसके उपरान्त प्रभावना के मार्ग का विचार करे।
59. गंभीर-गहन अध्ययन के बिना न कोई वक्ता बने, न लेखक और न ही प्रभावक।
60. गुरु-शिष्य परम्परा त्रैकालिक है। इस परम्परा से ही श्रुत-परम्परा जीवित रही है।
61. श्रुत की रक्षा से ही शासन सुरक्षित रहता है, इसलिए गुरुजनों का कर्तव्य है कि श्रेष्ठ शिक्षाशील शिष्यों का सृजन करें।

18

सत्यार्थ-सूत्र

अध्यात्म-योग

1. मन-वचन-काय की क्रिया का निरोध कर एक स्वरूप में निश्चल स्थिरतापूर्वक आत्मा के उपयोग को आत्मा में ही लीन करना '**अध्यात्म-योग**' है।
2. स्व उपयोग को स्व में स्थिर कर; पर-भावों से निज-भाव को भिन्न कर जो एकत्व-विभक्त भाव की लीनता है, वही **अध्यात्म-योग** है।
3. अध्यात्म-योग का साधक पंथ-सम्प्रदाय परम्पराओं से भिन्न जीवन जीता है।
4. एकमात्र ध्रुवज्ञायक की अनुभूति अध्यात्म योगी के पास होती है।
5. विश्व की परा विद्या '**अध्यात्म-विद्या**' है।
6. विश्व की विविध विद्यायें भोग की ओर ले जाती हैं और अध्यात्म-विद्या योग में लीन करती है।
7. परमात्म-पद को प्रदान करने वाली तथा निज-ज्ञायक से मिलन कराने वाली परम विद्या '**अध्यात्म-विद्या**' है।
8. शरीर इन्द्रियों से परे अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन कराने वाली '**अध्यात्म-विद्या**' है।
9. लौकिकता दूर कर लोकोत्तराचार की ओर ले जाने वाली '**अध्यात्म-विद्या**' है।
10. यह विद्या जिस भव्यात्मा को प्राप्त हो जाती है, वह आधि-व्याधि से शून्य परमानंद का भोक्ता होता है।
11. आधि-व्याधि से शून्य यदि कोई सुख है तो '**अध्यात्म-सुख**' है।
12. अध्यात्म का आश्रय लेकर साधक महा-पीड़ा को भी प्रसन्नचित्त से सहन कर लेता है, साधक दुःख-पीड़ा-कष्टों को उपहार मानता है।
13. अशान्त-चित्त को शान्त करने की विद्या '**अध्यात्म-विद्या**' है।
14. आध्यात्मिकता के बिना शान्ति, आनन्द का वेदन सम्भव नहीं है।

15. अध्यात्म सम्पूर्ण परभावों से निजभाव को भिन्न दिखाता है। जब परभाव मेरा ध्रुव-स्वभाव नहीं है, तो फिर व्यर्थ में उनके प्रति ममत्व स्थापित कर निज का भव-सागर क्यों वृद्धिंगत करें?
16. अध्यात्म में जीने वाले साधक लोक में सभी से मिलकर तो रहते हैं, परन्तु मिलते किसी में नहीं।
17. वे अपने तत्त्वज्ञान के बल से जगत् के सम्पूर्ण पर-द्रव्यों से उपेक्षा-भाव को स्थापित करके स्वानन्द में आनन्दित रहते हैं।
18. **अध्यात्म** अंतरंग की विशिष्ट साधना है, जिसमें सत्यार्थ तत्त्व का दर्शन होता है, आत्मशान्ति प्राप्त होती है तथा क्लेश से मुक्ति प्राप्त होती है।
19. जो साधक प्रतिक्षण अभिनव-अभिनव आत्म-सुख का वेदन करता है, उसे मान-अपमान किञ्चित् भी प्रभावित नहीं कर पाते।
20. अध्यात्म का साधक स्वसुख की अनुभूतियों के रसपान में निमग्न रहता है तथा वह परभावों, प्रपंचों से पूर्ण उपेक्षा रखता है।
21. **जो साधक** अध्यात्म-शून्य होकर साधना करता है; वह शारीरिक, मानसिक पीड़ा से पीड़ित रहता है।
22. अध्यात्म शून्य अपमान पर पीड़ित होता है, खिन्न होता है और सम्मान पर प्रसन्न होता है, इस प्रकार आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों में ही उसका चित्त स्थापित रहता है।
23. परमार्थ-तत्त्व से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि परमार्थभूत सत्यार्थ-तत्त्व को सुनना भी नहीं स्वीकारता।
24. **अध्यात्म शून्य** साधनों में जीवन स्वाहा कर लेता है, साध्य पर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता है।
25. आत्मशान्ति, सन्तोषी जीवन जीने की महान् कला '**अध्यात्म**' है।
26. आध्यात्मिक-पुरुष हर-पल संतोष का जीवन जीता है।
27. उसे न कोई शत्रु और न ही मित्र प्रतीत होते हैं, वह समत्वभाव से सब पर सम-दृष्टि रखता है।
28. संसारी प्राणियों को संतोष, सन्तुष्टि से बड़ी अन्य कोई वस्तु नहीं है।
29. वस्तु का यथार्थ-बोध होते ही अध्यात्म-दृष्टि बनने लगती है।
30. यथार्थ-बोध के लिए सतत अध्यात्म-शास्त्रों का स्वाध्याय, चिंतन-मनन की आवश्यकता है।

31. अध्यात्म-चिंतन के बिना समता जीवित रख पाना कठिन है।
32. श्रुतामृत पान सतत अनिवार्य समझना चाहिए, जैसे शिशु को दुग्धपान अनिवार्य है, उसके बिना शिशु का जीवन जीना कठिन है। इसी प्रकार से श्रुतामृत पान, साधक के लिए अनिवार्य है।
33. अध्यात्म के बिना, स्वाध्याय के बिना **वैराग्य** जीवित रख पाना दुर्लभ है।
34. सम्यक् तत्त्व-प्रबोधक प्रमाणित-आचार्यों के ग्रंथों का स्वाध्याय सर्वप्रथम करना चाहिए, अन्य का बाद में, क्योंकि वक्ता की प्रमाणिकता ही वचनों को प्रमाणित बनाती है।
35. समता भाव, परभावों में उपेक्षा, निज स्वभाव की अपेक्षा, रत्नत्रय धर्म में तत्परता, विषयों से विरक्ति, जिन-भक्ति में दृष्टि, अल्प-आहारी, सदानन्दी ही परम-अध्यात्म के सार को प्राप्त होता है।
36. वचन-प्रसार का निरोध अध्यात्म साधक के लिए अनिवार्य अंग है।
37. वचन-वृत्ति से चित्त भ्रान्त होता है और चित्त की भ्रान्ति अध्यात्म-योग को भङ्ग कर देती है, इसलिए साधक को सर्व-प्रकार से मौनव्रत धारण करना चाहिए।
38. आध्यात्मिक जीवन पवित्र-जीवन है।
39. कतक (फिटकरी) के संयोग से जैसे पानी स्वच्छ होता है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन स्वच्छ-शीतल समरस युक्त होता है।
40. जो साधक विषय-कषाय से शून्य रहकर, भेद-विज्ञान का आश्रय लेकर, परमब्रह्म अध्यात्मविद्या में प्रतिक्षण लीन रहते हैं; वही अपनी आत्म-प्रज्ञा की रक्षा करते हैं।
41. पाप-प्रवृत्ति का जहाँ नव-कोटि से पूर्ण त्याग है, तत्त्वाभ्यास में चित्त लीन है, विश्वमैत्री का भाव है, हास्य-कर्कश-मर्मभेदी शब्दों का जहाँ प्रयोग नहीं, वहीं जिन-शासन का अध्यात्म है।
42. विभिन्न कष्टों के मध्य भी जो आनन्दपूर्ण जीवन जीने की कला है; वही अध्यात्म है।
43. वस्तु स्वतंत्रता का जहाँ पाठ पढ़ाया जाता है; वहीं **अध्यात्म** होता है।
43. ज्ञान की विशालता में सम्पूर्ण-ज्ञेय प्रविष्ट हो जाते हैं, ज्ञान समाप्त नहीं होता, ज्ञेय अल्प अवश्य होते हैं।
44. आध्यात्मिक ज्ञानी पुरुष निन्दा-कषाय जयी, मितभाषी, मितभोजी होता है।

45. बहुप्रलापी ज्ञानी कहाँ? ज्ञानी के बहुप्रलाप कहाँ?
46. विज्ञजन विचारों से भी निस्पृह जीवन जीते हैं, क्योंकि बहु-विचार आत्म-क्लेश के कारण हैं।
47. जाति, कुल, वंश, परिवार, सम्प्रदाय, पंथ ये सत्यार्थ वस्तु-स्वभाव नहीं, अपितु कर्म कषाय-पुंजतंत्र हैं। चैतन्य-पुंज, जीवत्व-भाव एकमात्र अध्यात्म है।
48. व्यवहार में कुल-जाति-वंश-परिवार-सम्प्रदाय-पंथ हैं, परमार्थ में सबसे शून्य सत्-सत्-सत् ही है, शुद्ध वस्तुत्व-भाव।
49. ज्ञानी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अधिक विचार नहीं करता, क्योंकि उसकी सत् पर दृष्टि होती है। उत्पाद-व्ययादि पर्याय हैं, पर सत्पना त्रैकालिक है।
50. प्रवाहीमान लोक के प्रवाह से जो आत्म-रक्षा कर लेता है, वह आत्मलोक में विशिष्ट स्थान को प्राप्त होता है और फिर वही विश्व में **'अध्यात्म-गुरु'** संज्ञा को सहज ही प्राप्त कर लेता है।
51. न किसी को प्रभावित करो, न किसी से प्रभावित होना, उभय अवस्थाएँ आत्मशान्ति को भंग करने वाली हैं। एकमात्र निजात्म-ब्रह्म से ही प्रभावित रहो, यही 'अध्यात्म-दशा' है।
52. प्रेममार्ग से उपेक्षा, श्रेयमार्ग में लीनता तभी सम्भव है जब व्यक्ति का चित्त अध्यात्म-विद्या की ओर आकर्षित हो।
53. मात्र शरीर की साधना करने वाले कर्तापन के बोझ से युक्त रहते हैं और जो अध्यात्म-साधना में लीन होते हैं वे कर्तापन के भार से शून्य निजानन्द से पूर्ण रहते हैं।
54. जिसकी अछेद्य-अभेद्य चिद्ब्रह्म आत्मप्रभु पर अनिमेष, अपलक दृष्टि है वह अध्यात्मसार को प्राप्त होता है।
55. अध्यात्म सार को प्राप्त योगी सम्पूर्ण विषय-कषाय-संज्ञाओं से भिन्न होकर एकत्व-विभक्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता हुआ परम-सुख को प्राप्त होता है।
56. कर्म-विपाक काल में भोले प्राणी के लिए अन्य कोई नाथ नहीं होता, जो उसके कर्म-विपाक को परिवर्तित कर दे, एकमात्र आत्म-धर्म ही है।
57. अध्यात्म ध्यान-साधना से साधक संसार में रहते हुए संसारातीत की अनुभूति को प्राप्त कर लेता है, फिर बाह्य पाप-प्रवृत्तियों से पूर्ण उपेक्षा भाव को प्राप्त होता

है। जगत् की कामनाएँ और कामनियाँ उस साधक को लेश मात्र भी मानसिक क्लेश नहीं दे सकती हैं।

58. अनुत्पन्न, अहेतुक वस्तु का पारिणामिक-भाव सदा उत्पाद-व्यय-ध्रुवभूत है, स्वाश्रयी भाव है। वस्तु के वस्तुत्व पर लक्ष्य रखना आध्यात्मिक-पुरुष की सार्थक-दृष्टि है।

59. जो साधक पूजा में उन्नत भाव नहीं रखता, निंदा में अवनत भाव नहीं लाता, एकमात्र सहज-सरल परिणाम रखता है; वही अध्यात्म-विद्या के पुष्कल फल को अविराम प्राप्त होता है।

60. धन-धरती, पूजा-प्रतिष्ठा का राग व्यक्ति के चित्त को चलायमान कर देता है। चित्त की अस्थिरता में अध्यात्म फलित नहीं होता, इसलिए आत्म-साधक इनके स्वामित्व से भिन्न रहकर साधना करता है।

19

सत्यार्थ-सूत्र

संस्कार

1. मानव जीवन में महानता व दीनता संस्कारों से ही आती है।
2. सुसंस्कारों से मानव जीवन महानता को प्राप्त होता है और कुसंस्कारों से हीनता को प्राप्त होता है।
3. निर्णय आपको स्वयं करना है कि आपको महान् बनना है या दीन?
4. कुसंस्कार, अग्नि-अजगर-सिंह-विष से भी अधिक आत्मा के लिए अहितकारी हैं।
5. सिंहादि क्रूर प्राणी मात्र वर्तमान तन का ही नाश करते हैं, परन्तु कुसंस्कार आत्मानन्द को भव-भव में विकृत करता है।
6. कुसंस्कार यशःकीर्ति, ज्ञान-विज्ञान, कुलीनता, साधुता सबका युगपत् नाश कर देता है।
7. जैसा संस्कार जीवन में आता है, वैसा ही भविष्य बनता है।
8. यदि अशुभ-कर्म के कुसंस्कार जीवन में एक बार भी प्रवेश कर गए, तो व्यक्ति कुसंस्कारों के कुफल को जानता हुआ भी वही कार्य करता है, जिससे कुगति में जाना पड़े।
9. संस्कारमय जीवन हमेशा आनन्दमय होता है।
10. बाल-गोपाल उस व्यक्ति के प्रशंसक होते हैं जिसका जीवन सुसंस्कारों से पूर्ण होता है।
11. श्रेष्ठ संस्कार श्रेष्ठ-जनों में ही दृष्टिगोचर होते हैं, हीन-जनों में सुसंस्कारों की गन्ध भी नहीं होती है।
12. श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ सुसंस्कारों से युक्त जीवन जीने की आवश्यकता है।
13. लोकप्रियता, जगत् पूज्यता उन्हें ही प्राप्त होती है जो सुसंस्कारों से भरित जीवन जीते हैं।
14. संस्कार-हीन व्यक्ति को मार्ग की धूल-तुल्य जानो।
15. मार्ग में पड़ी धूल लोक में पैरों से रौंधी जाती है, वही धूल-मिट्टी कुम्भकार के

द्वारा संस्कारित कर पात्र बना दी जाती है और बाजार में मूल्यवान बन जाती है। उसी प्रकार संस्कारवान पुरुष मूल्य को प्राप्त होता है, इसलिए सज्जनों को स्व-जीवन को श्रेष्ठ-सुसंस्कारों से भावित करना चाहिए।

16. साधक का धर्म है कि वह प्रतिक्षण स्वात्महितकारी सूत्रों से निजात्मा को संस्कारित करता रहे।
17. तुच्छ जनों के सहवास से कुसंस्कार आ ही जाते हैं और महाजनों के साथ रहने से श्रेष्ठ संस्कार प्राप्त होते हैं, इसलिए महाजनों के साथ ही सहवास करना चाहिए, जिससे सुसंस्कारों की वृद्धि हो।
18. स्थापना निक्षेप की पूज्यता मात्र मंत्र-संस्कारों पर आलम्बित है।
19. मंत्र-संस्कारों के माध्यम से पाषाण धातु की प्रतिमा भी पूज्यता को प्राप्त हो जाती है, तो फिर संयम-तप-त्याग के संस्कारों से यह आत्मा पूज्यता को प्राप्त क्यों नहीं होगी? अवश्य ही होगी।

19. संस्कारवान सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है और संस्कारहीन सर्वत्र अपमान को प्राप्त होता है।

20. धन-धरती से भी अर्घवान यदि कुछ है; तो वह सु-संस्कार है।
21. धन-धरती स्वग्राम मात्र में ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु संस्कार सर्वत्र दिखाई देते हैं।
22. धनवान स्वदेश में ही सम्मान को प्राप्त करता है,पर सुसंस्कारवान मनीषी सर्वदेशों में विनय एवं पूज्यता को प्राप्त करता है।
23. श्रेष्ठ संस्कार शत्रु के पास ही क्यों न हों उन्हें भी आदर के साथ स्वीकार करना चाहिए और कुसंस्कार मित्र के पास ही क्यों न हों उन्हें तिरस्कार के साथ छोड़ देना चाहिए।
24. धर्म एवं श्रेष्ठ-विद्या का वास वहीं रहता है, जहाँ सुसंस्कार होते हैं।
25. सुसंस्कारवान के पास जब धर्म और विद्या स्थिर हो जाती है तब सम्मान व श्री स्वयमेव आ जाती है।
26. कुसंस्कारों से प्रभावित जीवन लज्जा, कुलीनता, सद्विचार शून्य हो जाता है। वहाँ सम्पूर्ण श्रेष्ठ-गुण नाश को प्राप्त हो जाते हैं।
27. साधुजनों की संगति से सुसंस्कारों का जन्म होता है।
28. संस्कारशील सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है, जबकि संस्कारहीन का सर्वत्र अपमान और अपयश होता है।

29. कुसंस्कारों के विष से साधक को प्रतिक्षण सावधान रहने की आवश्यकता है।
30. विष की कणिका भी मृत्यु का कारण बन जाती है, इसी प्रकार क्षण-भर के अशुभ-संस्कार भी प्राणी के संयम के प्राण ले लेते हैं।
31. साधना और समाधि की सिद्धि चाहिए; तो सुसंस्कारों से स्वात्मा को संस्कृत करो, कुसंस्कारों से स्वात्मा को सुरक्षित करो।
32. धर्म, यश, सम्पत्ति और संस्कृति की रक्षा तभी संभव है; जब देश, राष्ट्र, समाज में सुसंस्कारों की रक्षा होगी।
33. गुण-ग्रहणता का संस्कार व्यक्ति को महान् बना देता है, इसलिए प्रतिक्षण गुण ग्राह्य दृष्टि बनाकर चलो।
34. अवगुणियों में भी गुण देखना प्रारंभ करो, स्वयमेव ही आत्मविकास होगा।
35. संस्कारवान् ही संस्कृति की रक्षा कर सकता है।
36. संस्कारहीन स्वयं की रक्षा नहीं कर पाता, फिर वह संस्कृति की क्या रक्षा करेगा?
37. संस्कारहीनों की संगति श्रेष्ठ जनों को भी अपयश का कारण बन जाती है।
38. श्रेष्ठ-जनों को किसी भी स्थिति में पुण्यक्षीण एवं संस्कारहीन की संगति नहीं करना चाहिए।
39. आगमज्ञान, निर्दोष-चर्या संस्कारशील के पास ही रहती है।
40. कुशल-ज्ञाता वे ही हैं, जो आत्म संस्कार युक्त हैं।
41. संस्कारहीन की जननी-माता ही साथ नहीं देती, फिर अन्य किसी से सहयोग की क्या कल्पना करें?
42. यदि आत्म-विकास की भावना है और यदि जनप्रियता भी चाहते हो तो संस्कार प्रियता प्राप्त करो।
43. संस्कारहीन स्वजनों का ही प्रिय नहीं होता; फिर जनप्रिय कहाँ बनेगा?
44. यदि आप धर्म-धर्मात्मा के मध्य स्थान बनाना चाहते हो, तो संस्कारवान बनो।
45. सुसंस्कारों की हानि से मानव की मानवता की ही हानि है।
46. पशु और मानव में संस्कार का ही अन्तर है।
47. मानव विवेकशील प्राणी है, वह प्रत्येक कार्य सुविचार, सुविवेक का आश्रय लेकर करता है, जबकि पशु विवेकहीन होकर लोक में अपनी संज्ञाओं की पूर्ति करता है, इसलिए मानवता जीवित रहे ऐसा कार्य करो।

48. संस्कारवान लज्जावान भी होता है। बिना लज्जा-गुण के संस्कारों की रक्षा होना अत्यंत दुर्लभ कार्य है।
49. लज्जाशील, कुलवन्त जीव, स्वकुल जाति के अपयश हेतु कोई भी अशुभ कार्य नहीं करता है।
50. कुलीन-नर अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करते, अपितु अपने सुसंस्कारों की हमेशा सुरक्षा करते हैं।
51. सुसंस्कार तभी तक सुरक्षित रहते हैं; जब तक कषाय-भाव की पुष्टीकरण के निमित्तों से जीव अप्रभावित है।
52. कषायपोषण के निमित्तों से प्रभावित होते ही जीवन में सुसंस्कारों का अभाव होने लगता है।
53. निर्लज्ज खुलकर कुसंस्कारों से प्रभावित होकर कुकृत्यों में उन्मत्त हो जाता है।
54. सुसंस्कार-शून्य जीव कदाचित् पूर्व-पुण्य के नियोग से उच्च पद पर पहुँच जाए, पर फिर भी वह उच्चता को प्राप्त नहीं कर पाता, अपितु लोक में उपहास को प्राप्त कर अंतरंग दुःख की वेदना को प्राप्त होता है।
55. उन कुसंस्कारों से आत्मरक्षा प्रतिक्षण करनी चाहिए जो क्षण-क्षण में चित्त को संतापित करते हैं, क्योंकि संताप की पीड़ा को पीड़ित ही समझता है, वह जीते-जी मृत्यु से अधिक पीड़ा को सहन करता है।
56. कुसंस्कार अहोरात्र, मानसिक, शारीरिक, वाचनिक कष्ट देते हैं।
57. कुत्सित-चित्त से स्वात्म-विशुद्धि, परम निर्मल-सुख कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।
58. **संस्कारहीन** परम ज्ञान-धन से दरिद्री होता है, वह ज्ञानियों की सभा में भिखारी बनकर रहता है।
59. यदि आप धर्म-धर्मात्माओं के मध्य सम्माननीय बने रहना चाहते हो, तो सुसंस्कारों का धन संग्रह करो।
60. संसार में वे ही जीव धन्यवाद एवं पूज्यता के पात्र होते हैं, जो सदा कुसंस्कारों से पृथक् रहकर सुसंस्कारों को सम्मान देते हैं।
61. सुसंस्कारित सज्जन पुरुष जहाँ-जहाँ पहुँचे हैं वहाँ-वहाँ वात्सल्य के अश्रुजल से उनके चरण पखारे जाते हैं।

20

सत्यार्थ-सूत्र

आत्मतत्त्व

1. जो सत्-चित्-आनन्दमय है, परभावों से भिन्न स्वभाववान, ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, जड़त्वशून्य, चैतन्यभूत है, वह **आत्म-द्रव्य** है।
2. स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि से रिक्त ज्ञान-दर्शन धर्म से युक्त जो द्रव्य है, वही **आत्म-द्रव्य** है।
3. परमब्रह्म का उपासक, उपास्य-भाव को जो प्राप्त होता है, वही **आत्म-तत्त्व** है।
4. जगति पर स्थावर जंगम पदार्थों का जो ज्ञाता-दृष्टा है, वही **आत्म-तत्त्व** है।
5. चैतन्य का जो स्वभाव है, वही चेतनत्व **आत्म-तत्त्व** है।
6. चेतन-तत्त्व अर्थात् जीव-तत्त्व जिसे आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ, ज्ञानी, क्षेत्रज्ञ, प्राणी, भूत, सत्व, जीवादि नामों से जाना जाता है।
7. तत्त्वों के सत्यार्थ-बोध के लिए पूर्ण-ज्ञाता बनना पड़ेगा, अल्प इन्द्रिय-ज्ञान से पूर्ण-सत्य का बोध सम्भव नहीं है।
8. सम्पूर्ण-विश्व को तत्त्वमय समझना चाहिए। एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जो तत्त्वभूत न हो, जो वस्तु का स्वभाव है वही तत्त्व है।
9. **आत्मा** तत्त्व भी है, पदार्थ भी है, द्रव्य भी है।
10. विश्व में सबसे महत्त्वशील श्रुतज्ञान है; जो कि कैवल्यज्ञान पर्याय के प्रकटीकरण का कारण है।
11. आनन्दमयी और शान्तिपूर्ण जीवन तत्त्वज्ञानी का ही निकलता है।
12. तत्त्वज्ञानी पर-भावों से सदा ही निज को भिन्न देखता है और आत्मगुण-वैभव का अनुभवन प्रतिक्षण लेता है।
13. तत्त्वज्ञानी संकटों की बेला में भी हर्षित-भाव का अभाव नहीं होने देता।
14. माध्यस्थ-भाव तत्त्वज्ञ का मूलमंत्र है।
15. तत्त्वज्ञान के साथ क्रियाधर्म अमृतभूत हो जाता है।

16. तत्त्वज्ञान से शून्य क्रियाधर्म कषाय का भी साधन बन जाता है।
17. तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख में साम्यभाव का आश्रय लेता है।
18. तत्त्वज्ञान शून्य हर्ष-विषाद कर संक्लेशता पूर्ण जीवन जीता है, जो अकाल-मरण एवं दुर्गति का कारण है।
19. जगत् के सम्पूर्ण तत्त्वों में हेय-उपादेय और उपेक्षा-दृष्टि की योग्यता एकमात्र आत्म-तत्त्व के बिना ही होती है, लोक में अन्य कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो हेय-उपादेय और उपेक्षा-भाव को जानता हो।
20. साधक जाग्रत रहकर अन्तःकरण का प्रबल निर्णय करता है तब वह स्वात्मद्रव्य की स्वाधीनता को समझ पाता है, पश्चात् वह विश्व-व्यवस्था को देखकर माध्यस्थ हो जाता है।
21. जो आत्म ब्रह्म को जान लेता है, फिर अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं होती। जिसने आत्मतत्त्व को नहीं जाना उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं जाना।
22. अनन्त गुणों से युक्त आत्म-तत्त्व है जो कि स्वयं में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय है, प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय है। परमार्थ दृष्टि से स्वात्मतत्त्व को जानने के लिए अन्य ज्ञाता व ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।
23. स्व-पर प्रकाशत्व धर्म जैसे दीपक में है वैसे ही आत्म-तत्त्व के अन्दर भी है।
24. बहिर-विकल्पों से शून्य होने पर ही आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।
25. स्वात्म-तत्त्व स्वसंवेदन से ही जाना जाता है, पर-संवेदन से आत्म-तत्त्व नहीं जाना जाता है।
26. अंतरंग की विशुद्धि, निर्मल परिणामों की प्रकृष्टता आत्मतत्त्व को सहज अनुभव करा देती है।
27. सहजानन्दानुभूति का दृढ़ संवेदन वासनाओं-कामनाओं से भिन्न कर देता है।
28. साधक का कर्तव्य है कि वह सहज-स्वभाव पर लक्ष्य रखे।
29. जब आत्मा परम समरसी भाव को प्राप्त होता है; तब राग-द्वेष, क्लेश, विकारी भाव आत्मा को प्रभावित नहीं कर पाते।
30. संसार में रहते हुए भी जीव संसार से भिन्नत्व का संवेदन करता है; यह समरसी-भाव का प्रभाव है।
31. आत्मतत्त्व की भूतार्थता का वेदन वही विवेकीजन कर पाते हैं जो कामादि विकारी-भावों से आत्मरक्षा कर लेते हैं, परभावों की पर्यायों पर जो स्वप्न में भी

कुदृष्टि नहीं करते, अहर्निश संवेग, निर्वेद भावना का सम्यक् चिंतन एवं निजशुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, राग-द्वेष कुकथाओं से सदा स्वयं दूर रहते हैं।

32. सभी सिद्ध स्व-स्व द्रव्यत्व की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सभी सिद्ध जीवों के लक्षण एकत्वभूत ही हैं।
33. आत्मद्रव्य पुरुषार्थशील द्रव्य हैं।
34. शुभ-पुरुषार्थ से शुभ-गति व अशुभ-पुरुषार्थ से अशुभ-गति प्राप्त होती है तथा शुद्धात्म-पुरुषार्थ से शुद्धोपयोगी आत्मा ही सिद्ध परमात्म-पद को प्राप्त करता है।
35. आत्मसिद्धि हेतु पुण्यात्मा जीव ही भाव विशुद्धिपूर्वक निर्दोष संयमाचरण का पालन कर पाता है।
36. क्षीण-पुण्य पुरुष की प्रवृत्ति शुद्धात्म-तत्त्व पर जाना तो अत्यन्त कठिन है ही, अपितु शुभाचरण में भी नहीं ठहरती।
37. क्षीण पुण्य पुरुष की प्रवृत्ति अशुभ-अशुभ कर्म के प्रति ही होती है।
38. जब निजभावों में धर्म वात्सल्य भाव का जन्म हो तब समझ लेना मेरा पुण्योदय प्रबल चल रहा है।
39. सर्व-विज्ञता प्राप्त जो द्रव्य है; वह आत्म-द्रव्य सर्वज्ञ-संज्ञा को प्राप्त होता है और जो सर्व-विज्ञता को प्राप्त नहीं है, सीमित द्रव्यों की अवस्थाओं को जो आत्मद्रव्य जानता है, वह छद्मस्थ-संज्ञा को प्राप्त होता है।
40. सकल द्रव्यों की सम्पूर्ण गुण-पर्यायों को जो युगपत् जानने वाला सर्वज्ञ है, वही केवलज्ञानी परमात्मा है।
41. मूढ़मति आत्मतत्त्व की सत्यार्थता को जाने बिना देह में ही आत्मबुद्धि रखता है और वह कष्ट का मूल कारण है।
42. परम सुख की इच्छा है, तो सर्वप्रथम देह से आत्मबुद्धि का त्याग करो।
43. देह आत्मा को एकत्व-भाव से अज्ञानी ही देखता है।
44. ज्ञानी तो देह-आत्मा को विभक्त ही देखता है। दो द्रव्य कभी एकत्व को प्राप्त नहीं होते हैं।
45. आत्मा की सर्व जघन्य अवस्था निगोद है। जहाँ पर एक श्वास प्रमाण काल में जीव अठारह बार जन्म-मरण कर लेता है।
46. जन्म और मरण की वेदना को कर्मफल-चेतना के साथ भोगता है।

47. आत्म-तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था कर्म-शून्य सिद्ध दशा है।
48. सिद्ध दशा में घातिया-अघातिया दोनों ही प्रकार के कर्मों का पूर्ण अभाव है कृतकृत्य अवस्था है, अनन्त-गुणों की प्रकट दशा है संसारातीत, अपुनर्भव को प्राप्त अवस्था।
49. अमूर्तिक शुद्धात्मा की उपलब्धि सिद्ध पर्याय में प्रकट हो जाती है, अब वह जीव कभी भी अशुद्धि को प्राप्त नहीं होगा, शुद्ध ज्ञान-चेतना युक्त है।
50. तत्त्वबोध की अनुपम विद्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आनन्द-दायक है, संसार में पतित प्राणियों के लिए परम अमृत रसायन है।
51. लोक में भ्रम, क्लेश, अशान्ति, अप्रीति का मूल कारण आत्मतत्त्व का सम्यक्-बोध न होना है।
52. जिसको सम्यक्-तत्त्व का बोध हो जाता है, वह संसार की सम्पूर्ण स्थितियों में आनन्द का जीवन जीता है।
53. पूर्वकृत कर्मोदय से तत्त्व-ज्ञानी के समक्ष भी विषमताएँ आती हैं, उन्हें महापुण्यशाली भी नहीं टाल पाये, परन्तु वे तत्त्वज्ञान के बल पर विषमताओं से प्रभावित नहीं होते।
54. तत्त्वज्ञानी के लिए विषमताएँ ही विषमता को प्राप्त हो जाती हैं।
55. आत्मतत्त्व ज्ञाता तटस्थता का आनन्द प्रतिक्षण लेता है, वह सर्व लोक व्यवस्था को साक्षी भाव से देखता है।
56. पर से प्रभावित होकर ही जीव हर्ष-विषाद अवस्था को प्राप्त करता है।
57. पर से **प्रभावित होना**, अपने सामान्य परमानन्द से पृथक् होना है।
58. सहज जीवन का जो सुख है वह अलौकिक है, उससे भिन्न जगत् में अन्य कोई आनन्द ही नहीं है।
59. मानसिक दुःख से मुक्ति का भाव है, तो मुमुक्षु को एकान्त में सहजता में प्रवेश का अभ्यास सतत करना चाहिए।
60. आत्मद्रव्य अनेकानेक गुण-पर्यायों का समूह है।
61. सम्पूर्ण द्रव्यों की गुण-पर्यायों को जानने की योग्यता भी आत्म द्रव्य में ही है, अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञातापन नहीं है।
62. ज्ञातापन तो मात्र आत्मद्रव्य में है और वह उसका त्रैकालिक स्वभाव है।

21

सत्यार्थ-सूत्र

सहज-जीवन

1. **सहजता** मानव जीवन की पहचान है।
2. माया, छल-कपट में मानवता का अंश भी नहीं होता।
3. सच्ची मानवता को प्राप्त करना है तो **सहज-जीवन** जीना सीखो।
4. **सहजता का जीवन** जीना व्यक्ति के लिए एक बड़ी तप-साधना है।
5. हीन-भावना शून्य हुए बिना, इच्छा-निरोध के बिना **सहज-जीवन** नहीं जिया जा सकता है।
6. **सहज-जीवन** जीने के लिए व्यक्ति के अन्दर आर्जव, मार्दव धर्म की आवश्यकता है।
7. मानी-मायावी दोनों ही सरलता व सहजता से जीवन नहीं जी पायेंगे, **सहज-जीवन** जीने के लिए मान-माया का त्याग करना होगा।
8. पर-भावों से पूर्ण निरपेक्ष, एकत्व-विभक्त निज-ध्रुव ज्ञायक-भाव की लीनता, उदासीनता पूर्ण जो है; वह **आध्यात्मिक सहज-जीवन** है।
9. दिखावे का अभाव, सामान्य भोजन, सामान्य वस्त्राभरण, मृदुभाषण तथा प्राणिमात्र के साथ वात्सल्य के साथ जीवन जीना, यह **सांसारिक सहज-जीवन** है।
10. **आध्यात्मिक सहज-जीवन** ही मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है, जहाँ राग-द्वेषादि से पूर्ण शून्यता प्राप्त हो सके।
11. सहजता एक अमूल्य साधना है।
12. सहजता की साधना से व्यक्ति स्वयं में उतरकर स्वयं का निर्णय करता है।
13. साधक को विवेकपूर्वक इतनी सरलता लाना चाहिए, जितनी सरलता नवजात शिशु में होती है।

14. जो यथाजात बालकवत जो अपना जीवन बना लेता है, वह भूतार्थ सहज-साधना को प्राप्त कर लेता है।
15. यदि मुक्ति की वरमाला चाहिए, तो विकारी भावों से अपने को पृथक् कर, शील-माला को धारण कर, प्रतिक्षण जागृति पूर्वक अनर्घवान शील-माला की रक्षा करनी चाहिए।
16. सहज-जीवन का आनन्द जो भव्य जीव ले लेता है; उसके सामने सम्पूर्ण माया जीर्णतृणवत दृष्टिगोचर होती है।
17. सहज-जीवन जीने से सत्य-बोध सहज ही हो जाता है।
18. अज्ञ प्राणी पर से प्रभावित होकर असहज होकर क्लेश, अशान्ति को प्राप्त होता है तथा आत्म-शान्ति से तो वह अपरिचित ही रहता है।
19. सबसे भिन्न होकर ही सहजता की उपलब्धि होती है, स्त्री-पुत्र वस्त्राभूषणों के राग में द्वेषता की प्राप्ति होती है।
20. **पर से ममत्व** सहजता को भङ्ग कर देता है।
21. सहज जीवन अंतरंग आत्म-विकास के लिए अमृत-सिंचनवत है।
22. जैसे समय-समय पर भूमि में यदि शुद्ध पानी की सिंचाई अच्छे से होती रहे तो धान्य-वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मानव के अन्दर जितनी विशिष्ट-सहजता होगी उतनी ही विशिष्टता युक्त आत्म-विकास होगा।
23. सहज-जीवन जीने के लिए निर्लोभता, निरहंकारता होना चाहिए, लोभी-अहंकारी कभी भी सरलता, सहजता को प्राप्त नहीं कर पाता।
24. सहज-सरल वही हो सकता है जिसने लोक में एकमात्र निजात्मा को छोड़ अविशेष सम्पूर्ण पर-पदार्थों को पर मान लिया, तृणमात्र भी पर-द्रव्य निजात्मभूत नहीं है, इस प्रकार पर-ममत्व शून्य जीव ही सहज-जीवन जी पाता है।
25. व्यक्ति की आकांक्षाएँ जितनी न्यून होती जाती हैं उतनी ही व्यक्ति के अन्दर सरलता और सहजता वर्धमान होती जाती है।
26. व्यक्ति बढ़ती इच्छाओं से सहज नहीं रह पाता, क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक मायाभाव के उपक्रम व्यक्ति को अपनाना पड़ते हैं।
27. जीवन में महानता और विश्व-प्रियता प्राप्त करना है, तो सबसे प्रियभाषण, प्रसन्नचित्तता से सहज-जीवन जीना सीखो।

28. क्रोधी, लोभी, मायावी, मानी, कामी, क्रूर-व्यवहारी, निष्ठुर, असहज-जीवन जीने वाले को अपने भी नहीं अपनाते हैं।
29. अपने जीवनकाल में घोर-उपसर्ग, कष्ट, अपमान की पीड़ा को सहन कर लेना, परन्तु सरलता, सहजता कभी नहीं छोड़ना।
30. जीवन की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति **सहजता** है।
31. **सहज-जीवन** स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से शून्य तथा आत्मानन्द रस से पूर्ण होता है।
32. लोक में वे ही दुःखी हैं, जो सहजता से दूर हैं।
33. सहजता के लिए अन्य की कोई आवश्यकता नहीं होती है।
34. स्वयं का आनन्द ही उसका सहजानन्द है।
35. सहज-जीवन में हर्ष-विषाद के कारणों का भी अभाव है, मान-अपमान का कोई हेतु नहीं।
36. असहजता के जीवन में पग-पग पर अन्य की आवश्यकता रहती है, उसे हर्ष-विषाद, मान-अपमान पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है।
37. असहजता का जीवन दुःख, क्लेशपूर्ण होता है।
38. प्रत्येक भव्य-जीव को जीवन में प्राणान्त के पूर्व एक बार सहजता का आनन्द लेने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।
39. स्वयं में प्रतिपल आनन्द-यात्रा में वही जीता है; जो अपने आपको सहज देखता है।
40. सहजता का वेदन तभी सम्भव है; जब व्यक्ति किञ्चित् मात्र भी चित्त में अशुद्ध-भावों को स्थान नहीं देगा।
41. जीवन में अल्प-से-अल्प भूल भी क्लेश उत्पन्न करने में समर्थवान है।
42. क्लेश के साथ विशुद्धि कहाँ? विशुद्धि के अभाव में सहजता कहाँ? सहजता के बिना सत्यार्थ सहज आत्मानन्द कहाँ?
43. आत्मानन्द चाहिए; जो जीवन में संयम के साथ आत्मविशुद्धि को जीवन्त रखो।
44. पर वस्तु का राग व्यक्ति को सहज-जीवन से दूर रखता है।
45. सहजता में ममत्व नहीं और ममत्व-भाव में सहजता का प्रवेश ही नहीं, इसलिए विज्ञ-प्राणी का कर्तव्य है कि वह अपनी सहजता की रक्षा करे।
46. पर-विकल्पों में स्वयं की सहजता का विसर्जन नहीं करना चाहिए।

47. प्रत्येक कार्य के काल में स्व-स्वतंत्रता का ध्यान रखना चाहिए। सर्वलोकाचार देखते हुए भी, पर के राग व द्वेष के कारण, स्वनिर्दोष परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार नहीं होना चाहिए।
48. आत्म-सहजता की रक्षा तभी संभव है जब ज्ञाता सम्पूर्ण जड़ व चैतन्य पर-ज्ञेयों से निज को भिन्न देखेगा।
49. पर-ज्ञेयों के प्रति राग-वृत्ति चित्त को चलायमान कर देती है और चंचल-चित्त में सहजता की स्थिरता का होना असंभव कार्य है।
50. जो साधक स्वप्रज्ञा व स्वानुभव से एकत्व-विभक्त भाव का अनुभव क्षण-क्षण में लेते हैं; वे राग-द्वेष-मोह से रिक्त होकर सहजस्वरूप में मग्न होकर परम-समरसी-भाव का आनन्द लेते हैं, जन्म-जरा-मृत्यु रोग-त्रय का नाश कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं।
51. सहज-ज्ञाता आत्म-स्वतंत्रता को वेदता हुआ पूर्ण शांत हो जाता है।
52. सहज ज्ञाता एकत्व के आनन्द में निमग्न होता हुआ, संसार में रहते हुए भी संसारातीत का अनुभव प्राप्त कर लेता है।
53. सहजता के जीवन में साधक को कोई भी विषय आश्चर्य में नहीं डालता है। उसका कारण यह है कि वह स्वभाव-भाव, विभाव-भाव, क्षयोपशमिक, औदयिकादि भावों को अच्छी तरह से जानता है और दैव एवं पुरुषार्थ पर विश्वास करता है।
54. सहज साधना के साधक को कर्मजभावों पर हर्ष-विषाद करना किञ्चित् मात्र भी स्वीकार नहीं होता, क्योंकि किसी भी विषय को दीर्घ समय तक चित्त में रखना अर्थात् विशुद्धि का घात, संक्लेशता, आत्मक्लेश दुःख संतापादि प्राप्त करना ही है।
55. परमार्थ में सहज होते-होते साधक एक ऐसी भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है; जहाँ एकमात्र निज-चैतन्य वस्तु से भिन्न कुछ भी अनुभव में नहीं आता है। मात्र चिद्-चिद् शेष रहता है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं।
56. सहजता आत्मोन्नति का परम बीज है, इसके बिना मोक्षफल असम्भव है।
57. व्यवहार में इतने सरल हो जाओ कि लोग पानी की शीतलता को भूलकर सहज पुरुष का ही उदाहरण देने लगें।
58. सहजता, शीतलता, धैर्य और गंभीरता व्यक्ति को उत्तीर्णता के पास पहुँचा देती

है; वहीं भावों की वक्रता, स्वार्थी-भाव, छल-परिणति जीव के प्रति अविश्वास खड़ा कर देती है।

59. विश्व में विश्वासपात्र बनना चाहते हो तो सहजता लाओ। सहजता, सरलता, माया रहितता के बिना आप अपने सम्बंधियों के विश्वासपात्र भी नहीं बन सकते हो, फिर विश्व के विश्वासपात्र कैसे बनोगे?

60. व्यक्ति की इच्छायें सहजता का घात करती हैं।

61. अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य को मत दबाओ, यदि दबाना ही है तो स्वयं की इच्छाओं का दमन करो, सहजता की सुगंध प्रारंभ होने लगेगी।

62. सहज व्यक्ति सभी का प्रिय और आदर्श होता है और उसके लिए सभी सहज ही तत्पर रहते हैं।

63. सहजता का जीवन समरसी भाव का जीवन, जगत् से समझपूर्वक अपरिचितता का जीवन है।

64. आनन्द कन्द ज्ञानघन चिद्पिण्ड निज-भगवानात्मा का अनुभवन प्रत्यक्ष प्रमाण से करने के लिए सहज समाधि का पुरुषार्थ करना ही होगा। साधना का सामान्य जीवन जीना भिन्न विषय है।

65. सहज-योग की अनुभूति, समाधिमरण करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है।

66. कोटि-कोटि साधकों में विरले ही साधक सहज-समाधि को प्राप्त होते हैं जिसके प्रभाव से स्वर्ग एवं मोक्षपद प्राप्त होता है।

22

सत्यार्थ-सूत्र

पुण्य-पाप

1. प्रज्ञ-पुरुष पर के सुख-दुःख में ही नहीं, अपितु स्वयं के सुख-दुःख में भी हर्ष-विषाद भाव को प्राप्त नहीं होता।
2. ज्ञानी इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि संसार का इन्द्रिय जन्य सुख व दुःख आत्मा की सहज दशा नहीं है, यह तो कर्मजभाव है, कर्म-सापेक्ष अवस्था है। इसमें क्या हर्ष? क्या विषाद? जो है सो है।
3. मन-वचन-काय के नियोग से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह योग है। इस योग से कर्मों का आस्रव होता है। शुभयोग से शुभास्रव व अशुभयोग से अशुभ-आस्रव होता है।
4. शुभास्रव पुण्योदयभूत फलित होता है तथा अशुभास्रव पापोदयभूत फलित होता है।
5. पुण्योदय से संसार में इन्द्रिय-सुख की सामग्री तथा सुखानुभूति की प्राप्ति तथा पापोदय से इन्द्रिय-सुख सामग्री की अनुपलब्धि रहती है, फलतः जीव दुःखानुभूति को प्राप्त होता है।
6. संसार में पर के सुखों तथा अपने दुःखों को देखकर प्रभावित मत होना, क्योंकि सुख-दुःख पूर्वकृत कर्मबंध का विपाक है।
7. वर्तमान को सहज धर्ममयी वातावरण के साथ जियो, विशुद्ध-भाव करो; वर्तमान का पुरुषार्थ पवित्र करो तो आपका भविष्य स्वयमेव ही उज्ज्वल हो जाएगा।
8. संसारी प्राणियों के साथ लोक में सर्वत्र पुण्य-पाप का उदय कार्य कर रहा है, जो विवेकी इस सत्यार्थ को जानता है वह अपना जीवन संकल्प-विकल्प शून्य जीता है।
9. पुण्य की प्रबलता में असत्य भी सत्य हो जाता है, शत्रु भी मित्रवत व्यवहार करता है, सूली भी सिंहासन बन जाती है, मरघट भी महलवत सुख देता है, काँटे भी

फूल बन जाते हैं, नाग भी हार बन जाता है, अग्नि की ज्वाला भी जल में परिवर्तित हो जाती है; यह सब कुछ पुण्य की लीला है।

10. पापोदय की प्रबलता में सत्य भी असत्य हो जाता है।
11. पापोदय में शत्रु तो शत्रु रहते ही हैं, अपितु मित्र भी शत्रु बन जाते हैं, सगे भी पराये हो जाते हैं, औषधि भी विष बन जाती है, महल भी मरघट बन जाते हैं, जन्मदात्री भी प्राण लेती है, पुष्पहार भी कालानाग बन जाता है, शीतल-जल भी ज्वाला में बदल जाता है, चंदन भी दाह उत्पन्न करता है, पूर्णिमा की चाँदनी भी उष्ण प्रतीत होती है, विषहर मंत्र भी विषदायक हो जाते हैं, सम्पूर्ण अनुकूलताएँ प्रतिकूलताओं में संक्रमित हो जाती हैं, यह सब पापकर्म की महिमा है।
12. सज्जन-पुरुषों को पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद न करते हुए, माध्यस्थ-भाव का आश्रय लेकर अपनी आत्मविशुद्धि की रक्षा करनी चाहिए।
13. पुण्य व पाप दोनों पुद्गल कर्मों की अवस्था हैं, यह आत्म-धर्म नहीं है।
14. अहो मानव! पुण्य विपाक पर मत करो उन्माद, क्योंकि समय परिवर्तन-स्वभावी है।
15. मालूम नहीं समय कब परिवर्तित हो जाये? कहीं पुण्य-विपाक संक्रमित होकर पाप-विपाक में न बदल जाये, इसलिए पुण्य-पापोदय पर मध्यस्थ हो जाओ।
16. सबके दिन एवं सब दिन एक से नहीं होते।
17. वर्तमान की पर्याय एवं परिणाम पर विचार करो, दोष सम्प्रति अवस्था का नहीं।
18. भूत का किया कर्म आज भले ही कष्ट दे रहा हो, परन्तु वर्तमान के सुकृत्य भविष्य में पुण्योदय रूप नियत से फलित होंगे।
19. हीन-पुण्य के क्षीण होने में अधिक समय नहीं लगता, इसलिए प्रतिक्षण जाग्रत रहने की आवश्यकता है।
20. सम्पत्तियाँ कब विपत्तियों में संक्रमित हो जाएँ? इसलिए सज्जनों का कर्तव्य है कि वे अपने जीवन का समीकरण बना कर जियें।
21. वसुन्धरा पर प्रबल पुण्यात्मा भी पुण्यक्षीण होते देखे गए, पुष्पों पर विश्राम करने वाले सूलों पर चलते देखे गए, दण्ड देने वाले भी दंडित होते देखे गए। कर्म-विपाक विचित्र है।
22. पुण्योदय की तीव्रता में अपुण्य-परिणाम एवं अपुण्य-कार्य न हो, यह जीव की

विशिष्ट तप साधना है। इस साधना में उत्तीर्णता तभी सम्भव है; जब जीव प्रतिक्षण पापोदय की पीड़ा का ध्यान रखेगा।

23. पुण्योदय के अल्प-काल में अधिकांशतः जीव पापोदय की पीड़ा को भूल जाते हैं, अल्प इन्द्रिय सुख के कारण तीव्र दुःख को प्राप्त करते हैं।
24. पुण्य-पाप दोनों ही कर्मज भाव हैं, नाशवंत हैं।
25. उभयशून्य चैतन्य ही ध्रुव है, उसी का आश्रय लेना श्रेयस्कर है।
26. नाशवंत पर आत्मविशुद्धि का क्षय करना उचित नहीं है।
27. पुण्योदय पर इतने हर्षित मत हो जाना कि जिससे आत्म-विशुद्धि का ही लोप हो जाए।
28. पुण्य भी पर द्रव्य ही है, अभिन्न द्रव्य तो एकमात्र निज-भगवान्-आत्मा ही है, जो त्रिकाल अविनाशी है, वही सत्यार्थ में उपादेयभूत है, शेष तो हेय, ज्ञेय, उपेक्ष्य हैं।
29. जो पुण्य इन्द्रिय-सुख प्रदान करता है; उस सुख-भोग से पुनः नवीन-कर्मों का आस्रव होता है, उस आस्रव से पुनः इन्द्रिय-सुख भी प्राप्त होते हैं, फिर पुनः भोग। इस प्रकार संसार भ्रमण का अन्त नहीं होता।
30. संसार का अन्त चाहिए तो पुण्योदय पर भी माध्यस्थता का व्यवहार करना चाहिए।
31. परमार्थ-दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों ही कर्मों का उदय संसार का कारण है और संसार बंध पूर्वक ही चलता है।
32. जो भव्य जीव भवातीत होना चाहता है, उसे पुण्य-पाप के विपाक से आत्मरक्षा का उपाय खोजना चाहिए।
33. विशुद्धि की वृद्धि, संक्लेशता की हानि जिस उपाय से हो वही श्रेष्ठ उपाय है।
34. हर्ष-विषाद भाव से रिक्त मौन-साधना साधक के लिए अमृत-तुल्य है।
35. अमृतपान करने वाले देवों के अकाल-मरण का अभाव है, परन्तु जो मौन-साधक की साधना का अमृत है वह जन्म-जरा-मृत्यु का क्षय करा देता है।
36. कर्तापन से रहित एकत्वभाव से भावित होकर जो जीवन जीता है, वह संसार की लता को जड़मूल से उखाड़कर परम-समरसी-भाव के आनन्द का पान करता है।
37. तत्त्वज्ञ जीव पुण्योदय व पापोदय दोनों में ही सामान्य भाव रखता है, वह जानता है कि दोनों ही पुद्गल का विकार हैं।

38. आत्मा में काषायिक-भावों का आना स्व-कर्मोदय से है, परन्तु प्रबल पुण्यात्मा के प्रत्यय कषाय भी मन्द होती है, जो न के समान है, इसलिए पुण्योदय पुण्य-बंध श्रेष्ठ है, यदि पुण्य का प्रयोग पाप-बंध में नहीं किया तो।
39. परमाणु-प्रमाण पाप-प्रकृति भी जीव के दुःख में कारण बन जाती है, इसलिए प्रत्येक भव्य-जीव का कर्तव्य है कि वह पापकर्म प्रकृति के बंध-भूत निमित्तों से क्षण-क्षण में आत्मरक्षा करे।
40. पर-कृत उपकार व अपकार में हर्ष-विषाद मत करो। प्रत्यक्ष में परकृत अवश्य दिखता है, परन्तु परोक्ष में देखने पर स्वकृत दर्शन होने लगेंगे।
41. निमित्त पर-रूप दिखता है, पर उपादान स्व का ही होता है।
42. भूतप्रज्ञापन नय से भी देखो वर्तमान, जो भी वर्तमान में पर-कृत उपकार-अपकार है वह तेरे ही शुभाशुभ कृत पूर्व-कर्मों का ही विपाक है।
43. स्व कर्मोदय पर चिंतन करने से समत्व का जन्म होगा, परकीय-कर्तापन से दृष्टि पृथक् होगी और हर्ष-विषाद का विराम होगा।
44. पुण्योदय पर पुण्यभावों को सुरक्षित रखना प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है।
45. पुण्योदय के काल में विवेक का विसर्जन कर, उन्मत्त होकर सर्वाधिक जीव पापाचार में प्रवृत्त होकर अशुभ-कर्म का बंध कर भावी-दुःख को निमंत्रण देते हैं।
46. धन्य-धन्य-धन्य वे जीव जो पुण्योदय पर भी विवेक के साथ अपना जीवन जीते हैं और पुण्यफल को युक्ति से भोगकर भविष्य की भी सम्यक्-व्यवस्था कर, समाधि से युक्त मरण कर, दुर्गति से स्वात्मा की रक्षा करते हैं।
47. पुण्य की युवावस्था में जिनके पास प्रज्ञा-वृद्ध है; वे मानव ही लोक-पूज्य हैं।
48. परिणामों के विकृत होते ही जीव के पुण्य में विकार उत्पन्न हो जाता है।
49. जैसे दुग्ध में अम्ल के मिश्रण से विकार उत्पन्न होता है; वैसे ही विशुद्धि घटने पर पुण्य की धारा भंग हो जाती है।
50. भावों की विशुद्धि की सुरक्षा से ही पुण्य का रक्षण सम्भव है।
51. हर समय अशुभ-भावों से भिन्न होकर व्यक्ति को अपने परिणाम निर्मल रखना चाहिए।
52. विशिष्ट योग एवं योग्यता की सिद्धि भी विशिष्ट पुण्योदय पर ही होती है। पुण्य की क्षीणता पर बनते कार्य भी अन्त में बिगड़ते देखे जाते हैं।

53. अज्ञ प्राणी जीवन के अमूल्य क्षणों को पर के पुण्य-पाप पर विचार कर व्यय करता है। वह पर-निन्दा के पाप का संचय कर नीच-गोत्र का बंध कर दीर्घ-संसार में भ्रमण कर क्लेश को प्राप्त करता है।
54. प्रज्ञ-पुरुष स्वात्महित के एक क्षण काल को भी परभावों में व्यय नहीं करता है; वह क्षण-क्षण में स्वात्महित पर ही विचार करता है।
55. पाप-पंक से कैसे बचे, श्वास-श्वास में पाप कर्म से आत्मरक्षा हो, श्रुति में रमण तथा कुश्रुति से रक्षा हो, ऐसे पवित्र-भाव भव्य-जीव के ही होते हैं।
56. पुण्यात्मा जीव की निन्दा करने से स्वपुण्य का क्षय होता है।
57. पूज्य पुरुषों का सदा विनय करो। पूज्यों के गुणगान करो, अपूज्यों पर माध्यस्थ-भाव व सद्भावना रखो।
58. स्वभाव में मृदुता का अभ्यास सतत करो, इससे स्वात्मा पुण्य-गुणों से पूर्ण होता है तथा कर्म से शून्य होता है।
59. पुण्य-पुरुषों का गुणगान भव्यों की भाव-विशुद्धि में साधन है।
60. शुभाशुभ शब्दों का श्रवण भी पुण्य-पाप के उदय से होता है।
61. पुण्योदय पर प्रतिक्षण सुन्दर-सुवाक्, गुण-कीर्तन सुनने को मिलते हैं, शत्रु-गृह में भी प्रशंसा-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है।
62. पापोदय में स्वगृह में भी अशुभ-शब्दों का श्रवण करना पड़ता है, स्व-जननी एवं जनक भी दुर्वचन बोलकर बुलाते हैं। पापोदय पर मर्मभेदी शब्दों को सुनकर जीवन जीना पड़ता है।

23

सत्यार्थ-सूत्र

आस्था

1. आस्था की डोर दिखती नहीं, परन्तु अंतरंग का दृढ़-बंधन है; जो कि हाथियों से भी नहीं तोड़ा जा सकता है।
2. सत्यार्थ मार्ग पर की गई आस्था व्यक्ति को लोक में महान् ही नहीं, अपितु भगवान् बना देती है।
3. विश्वास के साथ किया गया कार्य स्वयमेव ही पूर्ण होता है, पर कार्य क्षमता के प्रति पूर्ण आस्था होना अनिवार्य है।
4. जैसे-जैसे विश्वास वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे-वैसे कार्य क्षमता एवं लग्न बढ़ती चली जाती है। फलतः कार्य पूर्णता में व्यक्ति उत्तीर्णता को प्राप्त कर लेता है और वह प्रसन्नता को प्राप्त करता है।
5. मोक्षमार्ग का रास्ता, सत्यार्थ-मार्ग उसी को दिखता है; जिसके पास **सम्यक्-आस्था** हो।
6. **आस्था-विहीन** सुख से विहीन जीवन जीता है।
7. **आस्था** स्व-पर कल्याणी एवं उभय लोक में सुखप्रद होती है।
8. जिनेन्द्र प्रभु की देशना उन्हें ही फलित होती है, जो जिन-देशना पर आस्थावान होते हैं।
9. जहाँ व्यक्ति की आस्था विद्यमान रहती है वहाँ गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं और जहाँ पर आस्था नहीं है वहाँ गुणों का समुदाय होने पर भी दोष ही दिखाई देते हैं, इसलिए सर्वगुणों में प्रधान गुण **आस्था** है।
10. आस्था के अभाव में किसी भी गुणी के गुणों का कीर्तन नहीं किया जा सकता है।
11. श्रद्धा वह अमृत है; जो अविश्वास के विष से रक्षा कर लेता है।
12. कषाय की तीव्रता में व्यक्ति की आस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं, कषाय के मंदोदय में ही आस्था, आस्थावान और आस्थेय दिखाई देता है।

13. आस्था के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता।
14. कषाय व्यक्ति के जीवन को खोखला कर देती है।
15. आस्था को सुरक्षित रखना चाहते हो, तो कषाय को परिवर्तित करो।
16. धर्म-धर्मात्मा पर आस्था उन्हीं की होती है जो कषाय रूपी कालकूट से सुरक्षित रहते हैं, जहाँ कषाय-विष है वहाँ पर आस्था के प्राण संकट में पड़ जाते हैं।
17. सत्यार्थ-मार्ग पर जुड़ी आस्थाओं को तोड़ना, तुड़वाना महाहिंसा है।
18. अनादि-अविद्या के वश हुआ प्राणी सम्यक्-श्रद्धान को बहुत ही कठिनाई से प्राप्त कर पाता है।
19. जब जीव का प्रबल-पुण्य व पुरुषार्थ साथ देता है तभी सम्यक्-मार्ग पर आस्था प्रकट होती है।
20. सम्यक्-धर्म एवं धर्मात्माओं के प्रति आस्था-भाव प्रबल पुण्योदय पर ही संभव है।
21. पुण्य की क्षीणता में मिथ्या धर्म एवं अधर्मात्माओं के प्रति आस्था उत्पन्न होती है।
22. विवेक-ज्ञान की सत्ता में व्यक्ति सत्य-मार्ग का आश्रय लेता है।
23. आस्था, विश्वास, श्रद्धा, प्रतीति के माध्यम से व्यक्ति आनन्द को प्राप्त होता है।
24. आस्था के अभाव में लोकवर्ती कोई भी वस्तु सुख व आनन्द का कारण नहीं हो सकती है, इसलिए आस्था को दृढ़ रखने की आवश्यकता है।
25. जितनी गहरी आस्था होगी उतना ही गहरा आनन्द होगा।
26. विश्वास से भावों में परिवर्तन होता है, भावों के परिवर्तन से सर्वाङ्ग में परिवर्तन होता है और आस्था से चित्त भी प्रसन्न होता है।
27. ऐसा आचरण करो जिससे आस्था-विहीन भी सत्-पथ पर आस्था पूर्वक लग जाए, तत्त्वार्थ से टूटे हृदय भी तत्त्वार्थ-श्रद्धान से युक्त हो जाएँ।
28. आपके समीचीन-आचरण का अवलोकन कर एक जीव भी सत्यार्थ-मार्ग पर लग गया तो समझ लेना आपने कोटि-कोटि यज्ञों का फल प्राप्त कर लिया है।
29. जहाँ आस्था है, वहाँ प्रीति उत्पन्न होती है और जहाँ प्रीति रहती है, वहाँ सुख स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है।
30. जहाँ अप्रीति है, वहाँ दुःख है। दुःखी प्राणी आस्था को स्वस्थ नहीं रख पाता है।

31. स्वयं के प्रति विश्व की आस्था जीवित रखने के परिणाम हैं, तो विश्व में विश्वास के साथ जिओ, स्व के आचरण को छल-कपट रहित आचरित करो।
32. हीयमान साधना साधक की उन्नति का नाश कर अवनति करा देती है।
33. जीवन में उत्कर्ष देखकर अभिमान नहीं करना।
34. उत्कर्ष मान से नहीं, अपितु सत्यार्थ-मार्ग की आस्था से हुआ है।
35. जो हमेशा एक सा जीवन जीता है वही लोक में अपनी पूज्यता को जीवित रख पाता है।
36. जिसके अन्दर सत्यार्थ-तत्त्व के प्रति आस्था है; वही विश्व में मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रहता है।
37. जिस वृत्ति से विश्व आस्था पर पहुँचे हो उस वृत्ति की रक्षा जीवन पर्यन्त करना।
38. उन्नति की रक्षा करना आपका कर्तव्य है, वे जीव अज्ञ हैं जो अपनी उन्नति की रक्षा नहीं कर पाते हैं।
39. **आस्था** वह अमृत है जिसकी मिठास आस्थावान ही जानता है।
40. अनास्था विष है; जो आनन्द को भंग कर देता है।
41. वे पुरुष प्रज्ञावन्त हैं, जो अपने जीवन से भी श्रेष्ठ अपनी उन्नति को समझते हैं।
42. स्व के प्रति जो लोक की आस्था है वह नष्ट न हो, इसलिए प्रज्ञजन हमेशा सावधान रहते हैं।
43. जीवन में श्रद्धेय होने के लिए कठोर साधना करना पड़ती है। श्रद्धा के नाश में समय नहीं लगता।
44. ऐसा जीवन जिओ कि शरीर छूटने पर भी आस्था के हृदयों में आपका जीवन अंकित रहे।
45. आपका नाम कागजों, पत्थरों, धातुमय पत्रों पर नहीं, अपितु प्राणिमात्र के हृदय में रहे।
46. आचरण पावन रहे, तो नाम अमिट रहेगा।
47. महापुरुष घर-घर नहीं जाते, उनकी महानता स्वयमेव ही घट-घट में पहुँच जाती है।
48. चारित्र एवं वृत्ति व्यक्ति को महान् बना देती है।
49. श्रेष्ठ-चारित्र एवं श्रेष्ठ-वृत्तिवान पर दुनिया की आस्था होती है, धन-धरतीवान पर किसी की आस्था नहीं होती है।

50. जगत् करे मेरे ऊपर विश्वास ऐसी भावना मत भाओ, अपितु जगत् में विश्वसनीय कार्य करो तो जगत् का विश्वास आपके प्रति स्वयमेव हो जाएगा।
51. आपको अपना चित्र कहीं भी नहीं लगाना पड़ेगा, आप तो लोक के चित्तों में ही लग जाओगे।
52. आस्था से भवनों की दीवार पर नहीं, हृदय की दीवार पर होंगे आप।
53. लोक-प्रसिद्धि पर लक्ष्य न कर आत्म-सिद्धि पर जो लक्ष्य रखता है; उसे लोक-प्रसिद्धि स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।
54. धन्य-धन्य-धन्य वे साधक जिनकी मोक्ष प्राप्ति की भावना के साथ निस्पृहता पर दृढ़ आस्था है।
55. बिना निस्पृहता के साधु-मार्ग एक ढोंग के अलावा कुछ नहीं, पर-भावों से स्पृहता साधना की शत्रु है।
56. जो शास्ता (शास्त्र) पर आस्था रखता है वह परमशान्ति को प्राप्त होता है।
57. पुण्य-पुरुषों के गुण स्मरण, गुणकीर्तन करने से पाप कर्म का नाश होता है, पुण्यकर्म की वृद्धि होती है।
58. दीर्घ संसारी पुण्य-पुरुषों की कथा श्रवण में रुचि नहीं रखते, जिनका संसार भ्रमण अल्प है, वे ही सज्जन शास्ता पर अपनी दृढ़ आस्था रखते हैं।
59. भगवद् आस्था स्व-भगवत्ता को प्रकट करा देती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-वैभव की भावना रखते हुए परमात्म-भक्ति में चित्त स्थापित करना चाहिए।
60. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवद्रव्य ही ऐसा द्रव्य है जो जानने-देखने की शक्ति युक्त है, शेष द्रव्य ज्ञान-दर्शन शून्य हैं।
61. अपूज्यों के प्रति पूज्यता का व्यवहार करना भी अज्ञानता है तथा पूज्यों को अपूज्य कहना महामूढ़ता है।
62. जो वस्तु जैसी होती है विवेकशील उस पर वैसी ही आस्था रखता है।
63. विपरीत आस्था ही मिथ्यात्व है, जो लोक में बहुत कष्टकारी है, इसीलिए मिथ्यात्व-भाव से स्वात्मा की रक्षा करो।
64. जैसी परमात्मा के प्रति आस्था रखते हो वैसी ही स्वात्मा के प्रति भी आस्था रखो।
65. चैतन्य तत्त्व की स्वात्मानुभूति ही श्रेष्ठ है, वह स्वहितकारी, परमोपकारी है। अन्य-तो-अन्य ही है, यही सत्यार्थ जानो।

66. जीवन में स्वकार्य की उत्तीर्णता के लिए स्व-भाग्य एवं पुरुषार्थ पर आस्था होना अनिवार्य है।
67. स्व पुरुषार्थ एवं भाग्य पर विश्वास किए बिना किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता, वह असफलता की दाह में जलता रहेगा।
67. व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी योग्यता पर आस्था होना चाहिए। योग्यता समझे बिना भावी कार्य करने का निर्णय एवं सिद्धि नहीं होगी।
68. ज्ञानी पुरुष स्वयोग्यता का परीक्षण कर कार्य करने का पुरुषार्थ प्रारंभ करते हैं।
69. आप पर से स्व के प्रति जैसी आस्था चाहते हो, वैसे अपने परिणाम रखो।
70. जो व्यवहार आपको पर-से पसन्द नहीं है, वैसा व्यवहार आप पर के प्रति मत करो।
71. स्व से भिन्न पुरुष में जीवत्व, विवेक एवं स्वाभिमान स्वीकार करो, यदि आपमें मानवता है तो।
72. बिना सम्यक्-पुरुषार्थ के साध्यसिद्धि असंभव जानो।
73. व्यक्ति को नहीं; व्यक्तित्व को पहचानो, अपने स्वरूप को जानो।
74. जो सच्चे आप्त-आगम-तपोभृत हैं, उन पर आस्था करो।
75. सत्यार्थ-बोध के बिना अपनी आस्था प्रकट करना, यह स्व की अज्ञानता है।
76. अपनी विज्ञता व अज्ञता व्यक्ति स्वयं ही प्रकट कराता है। पर तो पर हैं, वे निमित्त मात्र हैं।
77. निमित्तों पर कर्तापन का आरोप होता है, कार्य तो निज उपादान में ही होता है।
78. संसार-भ्रमण, संसार-मुक्ति ये दोनों ही आत्म-पुरुषार्थ से होते हैं।
79. सम्यक्त्वधर्म भी आत्मविशुद्धि से ही फलित होता है, अन्य कारण तो पराश्रय हैं, भिन्न हैं, साक्षात् कारण तो आत्म-परिणाम ही है। इसी प्रकार से ज्ञान एवं चारित्र में समझना चाहिए।

24

सत्यार्थ-सूत्र

कर्म

1. स्वयं कर्म करे, कर्ता किसी को कहे यही महामूढ़ता है।
2. अन्य-द्रव्य अन्य-द्रव्य के सुख-दुःख का कर्ता नहीं होता, स्व का उपादान स्व में ही रहता है, पर में नहीं।
3. परकृत कर्म पर के ही होते हैं, वे कर्म स्व से भिन्न पुरुष के सुख-दुःख के कारण नहीं होते।
4. अज्ञ प्राणी पर के सुख-दुःख में स्वकर्तापन को स्थापित कर स्व की अज्ञानता का ही प्रचार कर लोक में हास्य का पात्र बनता है।
5. शुभाशुभ कर्मों से आत्मरक्षा का भाव है; तो शुभाशुभ क्रिया एवं परिणामों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करो।
6. कर्म से पीड़ित प्राणी को देखकर हास्य मत करो, आपकी हसी से उसे और अधिक कष्ट होगा, पीड़ा होगी, यह भी मानसिक हिंसा है।
7. जो स्व-पर की मानसिक हिंसा नहीं करता वही भव्यवर कर्म-बंध से अपनी रक्षा करता है।
8. कर्मविपाक के काल में कर्मबंध का भी ध्यान रखो, अशुभ-बंध न किया होता तो अशुभ-उदय कैसे आया? अशुभ-उदय के काल में भी रुदन नहीं चिंतन करो, अशुभ-बंध स्वयं कर्मों का न किया होता तो सम्प्रति उदय में क्यों आता? तुम्हारे कर्म-विपाक का कारण अन्य नहीं, तुम स्वयं ही हो।
9. जीव परिणाम हेतु न बनें तो कर्मवर्गणा कभी भी कर्मरूप परिणत न हों, ऐसा सिद्धांत का त्रैकालिक नियम है, इसलिए कर्मविपाक से भयभीत पुरुष को स्व भाव-कर्म पर नियंत्रण रखना चाहिए।
10. पर के भाव नहीं स्वयं के परिणाम ही जीव को शुभाशुभ कर्मास्रव एवं बंध के कारण हैं।

11. उदयकाल में यदि जीव स्वपरिणाम को सँभाल नहीं पाया, तो पुनः नवीन आस्रव-बंध को प्राप्त करेगा।
12. जीव को स्व-भावों को सँभालने का गंभीर पुरुषार्थ प्रतिपल करना ही श्रेयस्कर है।
13. बिना भाव-कर्म निरोध के द्रव्य-कर्मों का निरोध सम्भव नहीं है।
14. लोक में जो भी जीव साधना के मार्ग को प्राप्त हो रहा है वह साधना यदि परिणाम विशुद्धि पूर्वक होगी तो संपूर्ण साधना कर्मक्षय का साधन बनेगी।
15. कुछ साधना अशुभकर्म का ही क्षय कर पाती है, कुछ साधना अशुभ मात्र का निरोध कराती है, कुछ विशिष्ट साधक की विशिष्ट-साधना विशिष्ट रूप से शुभाशुभ कर्मों का क्षय करा देती है।
16. परमार्थ से कर्म का परिणमन स्वतंत्र है और आत्मा का स्वतंत्र।
17. कर्म अपनी योग्यता से परिणमन कर रहे हैं तथा आत्मा संसार में स्वकीय विभाव-शक्ति से भ्रमण कर रही है।
18. व्यवहार-दृष्टि से जीव के परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणा कर्मरूप परिणत हो रही है और कर्म के निमित्त से जीव संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है।
19. लोक में पुद्गल का भ्रमण कालाधीन है और जीव का भ्रमण कर्माधीन, ऐसी व्यवस्था जीव और पुद्गल की त्रैकालिक है, ईश्वर-कृत नहीं स्व-कृत है।
20. अज्ञ प्राणी कर्मोदय, कर्मबंध, सत्वादि को न जानता हुआ जगति पर भूत-प्रेतादि की उपासना में अपना अमूल्य समय एवं श्रद्धा का व्यय करता है, जबकि संसार के सुख एवं दुःख कर्म विपाक हैं, जो कि स्वयं के द्वारा पूर्वकृत-कर्म का ही परिणाम है, अन्य किसी भूत-व्यन्तर का फल नहीं।
21. व्यन्तरादि भी सुख-दुःख में निमित्त बनते हैं, तो वह भी पूर्वकृत स्वकर्मोदय का ही परिणाम जानो।
22. कर्म-सिद्धांत के बोध के अभाव में जीव संसार में अनेक प्रकार के क्लेश को प्राप्त कर रहा है और मिथ्या-आस्था में डूबकर सम्यक्त्व का नाश कर रहा है।
23. अशुभ-कर्मोदय पर शान्त जीवन जीना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उस समय जो भी पुरुषार्थ करोगे उसमें अनुत्तीर्ण ही होना पड़ेगा।
24. प्रभु भजन करो, अशुभ-क्रियाओं से आत्मरक्षा करो, रत्नत्रय धर्म का आलम्बन लो, संकल्प-विकल्प की ज्वालाओं से सुरक्षित रहो।

25. प्रभु भक्ति से अशुभ भी शुभरूप में परिवर्तित हो जाएगा। सब दिन एक से नहीं होते, सबके दिन भी एक से नहीं होते, ऐसा प्रकृति का सनातन धर्म है।
26. पुण्य कर्म के उदयकाल में स्वयं को सँभालकर रखना अनिवार्य है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण विषयों की सामग्री सुलभता से प्राप्त हो जाती है।
27. उस समय उसमें लिप्त नहीं होना। विरक्त चित्त से पापों से आत्मरक्षा कर अपने पूर्वकृत पुण्य को सुरक्षित रखना, नवीन पुण्य का बंध करना, जीर्ण पापकर्म की निर्जरा करना, ज्ञानीजनों का यही श्रेयस्कर कार्य है।
28. आत्मधर्म की रक्षा वे ही भव्य जीव कर पायेंगे जो कर्म-बंध एवं कर्म-उदय की पीड़ा को समझते हैं। वचनों में नहीं, निज भावों में।
29. जिसे अशुभ-कर्मों से दुर्गति और शुभ-कर्मों से सुगति का विश्वास है, दृढ़ आस्था है तथा चारों गतियों की सत्ता को जो जानता है वही संसार के भ्रमण से भयभीत हो सकता है।
30. कर्मोदय की तीव्रता में जीव विवेक-शून्य उन्मत्तवत हो जाता है, हेय-उपादेय पर तो लक्ष्य ही नहीं ले जाता। जैसा मन में आता है वैसा कार्य करता है।
31. अनर्थ के बाद उसे अर्थ की सुध आती है, तब तक सब नष्ट हो चुका होता है।
32. अज्ञ प्राणी कर्मोदय को देख-देख रोता है, हाय-हाय करता है। मेरे ऊपर महाकष्ट, महावेदना आ गई है, पर यह नहीं विचारता है कि इस कष्ट को देने वाला कौन है? ईश्वर, परमात्मा, विधि, ब्रह्म, अरे भाई! अन्य कोई ईश्वर नहीं है, कर्मोदय कर्म बंध के बिना नहीं आता।
33. कर्म बंध अन्य ने नहीं किया, स्वयं का कर्म, कर्ता जीव स्वयं है, व्यर्थ में पर को दोष मत दो।
34. कर्म सिद्धान्त का बोध व्यक्ति की सोच को शौच बना देता है।
35. जो पुरुष अपने सुख व दुःख का कर्ता अन्य को देखता था वह स्वयं को देखना प्रारम्भ कर देता है, स्व अनादि-अविद्या का त्याग कर स्वतंत्रता का वेदन करने लगता है।
36. उसे निर्णय हो गया कि बंध स्वयं ने किया था तो कर्मफल भी स्वयं ही भोगना होगा तथा कर्मनाश भी स्वयं के पुरुषार्थ से स्वयं ही करना होगा।
37. अन्य कोई पुरुष विशेष या परमात्मा मेरे सुख व दुःख का कर्ता-भोक्ता नहीं है। यह बात पूर्ण ध्रुव सत्य है, शेष तो जो है सो है।

38. भव्य प्राणी स्वयं के कर्मफल को स्वाश्रित ही स्वीकारता है तथा बंध-निर्जरा के विधान को भी जानता है।
39. कर्मसिद्धान्त का बोधक कर्म बंध के हेतुओं से आत्म-रक्षा का उपाय खोजता है, साथ ही कर्म-निर्जरा तथा मोक्ष-उपाय का पूर्ण पुरुषार्थ करता है। भावों की दशा पर प्रतिक्षण तत्त्वचिंतन करता है।
40. जीव के सुख-दुःख में कर्म ही निमित्त है, उसे ही विधि, ब्रह्म, ईश्वर, भगवान्, परमात्मा, विभु, दैव, भाग्य, विरंचि, कृतांत, नियति, यम, स्वभाव, काल, गृह आदि नामों से जाना जाता है।
41. अन्य कोई विभु, ईश्वर या परमात्मा प्राणी के लिए दुःख-सुख प्रदान करने नहीं आते, यह सनातन-सत्य है। कर्म सिद्धान्त का बोधक ऐसा जानता है।
42. पाप कर्मास्रव से आत्मरक्षा के भाव हैं; तो व्यर्थ के पाप कर्मों का बुद्धिपूर्वक त्याग कर देना चाहिए।
43. ऐसे कर्म मत करो जो आत्मविशुद्धि पूर्वक किसी से नहीं कह सको, ऐसे कर्म करो जिनके कहने में न रुको, न विशुद्धि का नाश हो, न कुल में कलंक लगे और न ही पाप का आस्रव हो।
44. स्वयं का ही चित्त जिसे सहसा न स्वीकारे वही तो पाप कर्म है।
45. चित्त पानी तुल्य है। गहरा पानी मध्य में से कचड़े को या मनुष्यादि प्राणियों को उछाल देता है, उसी प्रकार अशुभ-कर्मों को चित्त उछाल देता है, फिर साधक का चित्त स्वच्छ रहता है।
46. ऐसा कर्म करो जिससे अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि हो।
47. वह कर्म कभी मत करो जिससे अशुभ-कर्म का बंध हो, उभयलोक में पीड़ा की प्राप्ति हो, जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों ही सुखों का अभाव हो और जिससे जगति पर हसी हो।
48. परभावों से स्वयं का और स्वयं से पर भावों का कर्तापन कर्मबंध का प्रधान-कारण है।
49. कर्तापन से ही जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग में प्रवृत्ति करता है।
50. कर्तापन का अंतरंग से अभाव हो जाए और तदनुकूल प्राणी अपनी वृत्ति कर ले तो निश्चित ही त्रिलोक्यपति पद पर विराजमान हो जाए।

51. कर्म सहित संसार है, कर्म रहित मुक्ति। पुरुषार्थ पुरुष के हाथ में है।
52. स्वर्ग-मोक्ष, नर-नारक, तिर्यंचादि अवस्थाएँ मानव की विशुद्धि व संक्लेशता पर आलंबित हैं, स्व-पुरुष के पुरुषार्थ पर निर्भर हैं।
53. अन्तर्मुहूर्त काल के परिणामों को जीव सँभाल ले, तो दीर्घकाल तक संसार से कर्मोदय के कारणभूत घनघोर संकटों का दर्शन करना न पड़े।
54. कषाय की तीव्रता एवं भोगलिप्सा व्यक्ति को सत्यार्थ के दर्शन नहीं होने देती है, फलतः जीव विषयों में भावुक होकर अशुभ-कर्म करके, अशुभ-कर्म के बंध बांधकर चिरकाल तक संसार में महा-दुःखों को प्राप्त होता है।
55. वासना क्रूर होती है; जो जीव को अशुभ-कृत्यों में लगाकर संसार में महादुःखी बनाकर रखती है।
56. वासना में लीन जीवों को कम-से-कम स्वात्मा पर तो करुणा आना चाहिए।
57. कर्म वह शक्ति है, जो जीव को संसार में बांधकर रखती है और कर्म से मुक्त होते ही आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त करता है।
58. एक बार भी किया गया अशुभ-आचरण जीव को मिथ्या-भाषण, मिथ्या-भावों को उत्पन्न करा देता है।
59. जगति पर **मिथ्या-भाव** कर्मों की विशाल सेना खड़ी कर देता है।
60. अशुभ-कर्मों के बंध से भय है, तो अशुभ-आचरण एवं अशुभ-भावों से निज को भिन्न करो।
61. आत्म-स्वतंत्रता का चिंतन-मनन व्यक्ति को कर्मों से स्वतंत्र होने का संस्कार प्रदान करता है।
62. चिंतन की धारा के अनुकूल व्यक्ति की जीवन-धारा निर्मित होती है। श्रेष्ठ-चिन्तन, श्रेष्ठ-जीवन।
63. जीव का आत्म-पुरुषार्थ प्रबल है, तो कर्मों को भी शिथिल होना पड़ता है।
64. मयूर की आवाज से सर्प शिथिल हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक भव्यजीव का कर्तव्य है कि वह आत्मविशुद्धि पूर्वक मोक्षमार्ग में लीन रहे, परन्तु लौकिक कार्यों से अप्रभावित रहकर।
65. कर्म का उदय आता है इस बात का ध्यान रखते हुए जीव कर्म करे।
66. ऐसा मत समझ लेना कि जो शुभाशुभ हम कर रहे हैं वर्तमान में, वह वर्तमान

का ही है। यह भूल है, क्योंकि भविष्य में वर्तमान में किया गया कर्मबंध ही उदय में आएगा, फिर नयनों से नीर बहेगा।

67. अहो प्रज्ञ! वर्तमान में प्रशस्त कर्म करो; जिससे भावी काल में आँखों से पानी न आए।

68. अनावश्यक कार्यों से जीव अधिक कर्म का आस्रव-बंध कर लेता है।

69. इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, शरीर-मन श्रान्त है, फिर भी जीव व्यसन एवं संस्कार-वश विषय-कषाय रूप पाप-परिणाम एवं पाप-क्रिया में लीन रहकर क्रूर कर्मों का बंध कर भव-भव में क्लेश का पात्र बनता है।

70. परमात्मा एवं सद्गुरु का यही उपदेश है कि दृढ़तापूर्वक पापास्रव निरोधिनी, संवर एवं निर्जरा-वर्धनी संयम-समताकरी चर्या को स्वीकार करो, सद्-संगति, सद्-साहित्य, सद्क्षेत्र का आश्रय लो, जिससे पापकर्म से आत्मरक्षा हो सके।

25

सत्यार्थ-सूत्र

अप्रमाद

1. कुशल कार्यों में आलस्य नहीं करना, उत्साहपूर्वक प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान को पूर्ण करना, पन्द्रह प्रमादों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करना **'अप्रमाद'** है।
2. कुशलकार्य अर्थात् पुण्य-कार्यों में आलस्य वर्तना, संवेग भाव-शून्य क्रिया करना **'प्रमाद'** है।
3. **प्रमादी** को किसी भी वस्तु की समीचीन उपलब्धि नहीं होती, प्रमाद में हेय-उपादेय के विवेक का भी भान नहीं रहता।
4. **प्रमादी** प्रतिक्षण उन्माद में लीन रहता है, वह विवेक-भाव का तो घात ही कर लेता है। **प्रमाद** जीव का घोर शत्रु है।
5. जो पुरुष दिन-रात प्रमाद में सुप्त से रहते हैं; वे लौकिक एवं पारमार्थिक उभय-उन्नति का नाश करते हैं।
6. **प्रमाद** उन्नति का क्षय कराता है।
7. विकास उनका होता है, जो प्रमाद का त्याग कर सदा जाग्रत रहते हैं।
8. अप्रमादी के श्रीचरणों में संसार का सम्पूर्ण-वैभव सिर झुकाता है।
9. जो सूर्योदय के उपरान्त उठते हैं; वे क्या जीवन में विकास कर पायेंगे?
10. जो प्रमाद का आश्रय लेता है, वह मानवता-शून्य हो जाता है।
11. जो प्रमाद का त्याग कर लेता है, वह पूर्वोपार्जित-कर्मों का क्षय कर देता है।
12. प्रज्ञावन्त **प्रमाद** को ऐसे त्याग कर देते हैं जैसे सद्श्रावक अभक्ष्य, अन्याय, अनीति का त्याग कर देता है।
13. **प्रमाद** स्व-संवेदन के लिए अभक्ष्यवत है।
14. **प्रमाद** स्वात्मा के लिए पूर्ण-अन्याय है, मोक्षमार्ग में बाधक है।
15. जो इहलोक एवं परलोक में आत्म-विकास की भावना रखते हैं, उन्हें प्रमाद के त्याग की भावना प्रतिपल भाना चाहिए।

16. लोक में उच्चपदों पर वे ही बैठते हैं; जो प्रमादी नहीं होते। चाहे वह स्थान लौकिक हो, चाहे परमार्थभूत हो।
17. परमानन्द की अनुभूति प्रमाद में नहीं होती है, आनन्द के वेदन के लिए प्रमाद अर्गला है।
18. परमानन्द का अनुभवन अप्रमत्त-दशा में ही होता है, अप्रमत्त हुए बिना आत्मानन्द नहीं मिलता है।
19. प्रमाद हटाओ, परमानन्द पाओ।
20. प्रमाद, आलस्य व अशुभ-आदत इन तीनों में से यदि एक भी जीवन में आ जाए तो जीवन का विकास रुक जाता है, फिर जिसके पास तीनों ही हैं उसका विकास कहाँ और कैसे सम्भव है?
21. यह स्वयं ही सोचना पड़ेगा, पर का विचार न किसी की वृद्धि का कारण है न ही हानि का।
22. प्रेक्षावान पुरुष स्व जीवन के बारे में स्वयं ही निर्णय लेते हैं और प्रमाद एवं प्रमाद के कारणों से प्रतिक्षण आत्मरक्षा करते हैं, पग-पग पर क्षण-क्षण में सावधानी का वर्तन करते हैं।
23. प्रज्ञपुरुष आलस्य व प्रमाद को जीवन की एक बहुत बड़ी दुर्घटना मानते हैं।
24. तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय अप्रमादी का प्रण व प्राण है।
25. प्रमादी एवं प्रमाद से दूरी बनाकर चलना प्रेक्षावान की मूल-पहचान है।
26. **अप्रमत्त जीवन** विश्व का पवित्र जीवन है।
27. आत्मा में गद्‌गद्‌-भाव विवेकज्ञान के सद्‌भाव में ही प्रकट होता है।
28. विवेकज्ञान शून्य वात-कफ प्रकृति से परिणत शरीर वाला व्यक्ति प्रतिक्षण हीन-भावना से ग्रसित रहता है।
29. कार्य कुशलता के अभाव में परमार्थ एवं लौकिक उभय मार्ग में हीन भावना के क्लेश का दुःख प्रतिपल प्राप्त करता है।
30. कालकूट विष से भी अधिक विषाक्त कोई विशिष्ट विष है; वह प्रमाद और हीन-भावना है।
31. जो हीन-भावना को सहने में असमर्थ होते हैं, वे कायर का जीवन जीकर मृत-तुल्य जीवन जीते हैं।

32. प्रमादी की समाज, देश, राष्ट्र में कोई भी कीमत नहीं होती है, उन्हें सर्वत्र अपमान सहना पड़ता है।
33. जो दुःख व क्लेश शत्रु के द्वारा नहीं होता उससे अधिक दुःख प्रमाद देता है।
34. **प्रमाद** भव-भव में आत्मा को पीड़ित करता है। प्रमाद जो है वह उन्नति मार्ग के द्वार पर भी खड़ा नहीं होने देता है।
35. आत्महित क्या है? इसे तो विचार का विषय ही नहीं बनने देता है, विकथाओं में भेज देता है **प्रमाद**।
36. **प्रमाद** कषाय के पथ पर धकेल देता है।
37. आत्म-हितैषी को कषायों से अपनी रक्षा करना चाहिए, प्रमाद को छोड़ना चाहिए तथा विवेक को जाग्रत रखना चाहिए।
38. जो प्रमाद के अधीन है उसे स्वहित भावना के लिए समय ही नहीं मिल सकता।
39. प्रमाद से अपने आपको स्वतंत्र करो, स्वाधीनता में सुख है।
40. पराधीनता में सुख की कल्पना हो सकती है, परन्तु सुख नहीं मिल सकता।
40. स्त्री के प्रेम प्रमाद में कितने जीवों ने पर-के प्राणों का नाश किया, कितनों ने स्व-के प्राणों का ही नाश कर लिया, महा-संग्राम हो गए, इसलिए **प्रमाद का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।**
41. धर्म-धन-यश तीनों के क्षय में प्रबल कारण स्नेह-प्रमाद है, जो भी व्यक्ति विवेक शून्य होकर पर-स्त्री पर स्नेह को प्राप्त होता है, उसका धर्म, धन एवं यश क्षण-मात्र में विलीन हो जाता है।
42. प्रज्ञावन्त-पुरुष प्रतिक्षण जाग्रत होकर जीते हैं; वे विषय-कषाय की मदिरा से आत्मरक्षा करते हैं।
43. कौन-सी कषाय, क्या अनर्थ करा दे? कुछ नियत नहीं, इसलिए कल्याणेच्छुक भव्यात्माओं को प्रतिक्षण पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।
44. अंतरंग रूप से भी जो विषय-कषाय से प्रभावित नहीं होता; वही सच्चा प्रज्ञावन्त है।
45. प्रमादी-मानव मानवता को भूल जाता है।
46. प्रमाद का उन्माद दीर्घकाल तक प्रभावी होता है। पर-पदार्थों के संयोग-वियोग में क्लेश-बुद्धि यह स्नेह-प्रमाद का ही प्रभाव है।

47. राग-प्रमाद के कारण जीव बड़े-बड़े अनर्थ कर देता है, कोटि-कोटि जीवों का घात कर देता है।
48. जिससे राग था उसे ही मार दिया। विचार करो, राग व्यक्ति से था या वासना से?
49. यशःकीर्ति के पीछे व्यक्ति किसी का भी घात कर देता है। वासना की चाह में वध कर देता है।
50. एक पाप को छुपाने के पीछे दूसरा घोर-पाप हिंसा कर देता है, ऐसे राग को ही धिक्कार हो जो अनर्थों की जड़ है।
51. राग अन्धा होता है, वहाँ धर्म-यश-कुल-जाति-पद आदि की गरिता (गरिमा) तो दिखती ही नहीं है।
52. मनुष्य की वृत्ति श्वान जैसी हो जाती है। कामसेवी क्षण-भर में अपना सर्वनाश कर शोक को प्राप्त होता है।
53. प्रमादी पर में दोष देखता है, उसे तत्त्व का भूतार्थ-बोध कहाँ? स्वयं का सुख-दुःख पर-निमित्तों में खोजता है।
54. खिले पुष्प को पथिक भी प्रेम से देखता है तथा प्रसन्न-पुरुष को सम्पत्तियाँ भी देखती हैं।
55. जाग्रत-पुरुष को देखकर चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न चित्त को देखते ही विपत्तियाँ भाग जाती हैं।
56. प्रमाद का परिहार कर, उत्साह पूर्वक सतत स्वाध्याय व ध्यान करने से सामान्य व्यक्ति भी महान् ज्ञानी-ध्यानी बनकर स्व-पर कल्याण कर लेता है।
57. **प्रमाद** सर्वगुणों का क्षय करा देता है।
58. अप्रमत्त-दशा ही उत्कृष्ट एवं सर्व-कल्याणों की परम दशा है, आत्मा का विकास प्रमाद में नहीं अप्रमत्तता में है।
59. अज्ञ-प्राणी प्रमाद में डूबकर धर्म-यश का नाश कर लेते हैं, वहीं योगीजन प्रमाद का त्याग कर परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।
60. **प्रमाद** जीवन-उत्थान में महाशत्रु है।
61. एक व्यक्ति प्रमाद-शून्य होकर सम्यक्-पुरुषार्थ करे, तो वह विकास को प्राप्त कर लेगा।

62. मानव-मस्तिष्क सम्पूर्ण-जीवों में विशिष्ट होता है, इसलिए सम्यक्-उपयोग की आवश्यकता है।
63. विकासशील मानव अपनी प्रज्ञा को व्यर्थ के विषयों में नहीं लगाता।
64. **अप्रमादी** विशिष्ट स्थानों पर ही अपनी प्रज्ञा का प्रयोग करता है, जिसमें स्व-पर का हित निहित होता है।
65. लोक में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो मानव के ज्ञान से बाहर हो।
66. उत्साह एक अलौकिक शक्ति है, जो कि जीव को अनन्तानन्त शुद्ध-सिद्ध परमात्माओं के मध्य स्वतंत्र परमात्मा बना देती है, इसलिए प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त होने का सम्यक्-पुरुषार्थ करो।
67. **प्रमाद से प्रमाद की वृद्धि होती है और उत्साह से उत्साह की।** एक बार किया गया प्रमाद अनेक बार करने योग्य प्रमाद के संस्कारों को जन्म दे देता है, इसलिए प्रज्ञ-पुरुषों का कर्तव्य है कि वे एक बार भी प्रमाद न करें।
68. प्रमाद-शून्य होकर स्व-पर हितकारी मार्ग को प्रशस्त करें तथा श्री जिनशासन का उद्योतन करें।
69. पुरुषार्थ एवं उत्साह जीवन में कभी नहीं छोड़ना चाहिए। भले ही अभी कार्य की पूर्णता न भी हो, तब भी कार्यपूर्णता के लिए पुरुषार्थ करना, क्योंकि भविष्य में वही पुरुषार्थ कार्य-सिद्धि का कारण बनेगा।
70. प्रमाद नहीं, पुरुषार्थ करो।
71. विषयों की लिप्तता, कामादि विकारों की तीव्रता यह जीवन का **महा-प्रमाद** है।
72. जब-तक जीव कामादि भावों से आत्मरक्षा नहीं करेगा तब तक प्रमाद का अभाव नहीं होगा और प्रमाद का अभाव हुए बिना मोक्षतत्त्व की सिद्धि नहीं होगी।
73. प्रमाद के वश होकर जीव विवेक-शून्य हो जाता है। उसे बोध ही नहीं रहता है कि मेरी प्रमाद चर्या से अनेक जीव क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं।
74. प्रमाद के उन्माद से आत्मरक्षा किए बिना, अहिंसा परम धर्म का पूर्णतः पालन सम्भव नहीं है।
75. धर्म के मूल की रक्षा करने के भाव हैं तो प्रमाद छोड़ो।
76. **प्रमाद का जीवन** उन्माद और बेहोशी का जीवन है।
77. उन्मत्त के पास विवेक नहीं होता, प्रमादी भी विवेक शून्य होता है।

78. प्रमादी व उन्मादी दोनों की एकता है। उन्माद छूटे तो प्रमाद छूटे और प्रमाद छूटे तो उन्माद छूटे।
79. **प्रमादी** को कोई सज्जन अपना मित्र नहीं बनाता और **प्रमादी** किसी को मित्र नहीं बनाता।
80. दीर्घकाल तक प्रमादी का कोई साथ नहीं देता, सगे भी दूर हो जाते हैं, फिर अन्य की क्या बात कहें?
81. सिद्धि प्रदायिनी वृत्ति वैराग्यपूर्ण निष्प्रमाद वृत्ति है। जो व्रतों से युक्त थे, वे ही भव्यवर सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।
82. पर-भावों में आसक्त चित्त वाला प्रमादी दीर्घसंसारी जीव होता है, वह प्रमाद एवं आसक्ति का त्याग करके ही मुक्ति को प्राप्त कर पाएगा।
83. जीवन में उत्साही स्वभाव श्रेष्ठ-उपहार है या कहें उत्कृष्ट वरदान, जो कि प्रतिपल वर्धमानता की ओर ले जाने के लिए नवीन-नवीन उमंग-तरंगों को प्राप्त कराता है।
84. उन्नति के लिए प्रत्येक पल उत्साहपूर्ण हो और वह भी हीन-भावना से शून्य।
85. सम्पूर्ण **प्रमाद** आत्मविशुद्धि के घातक हैं, मोक्षमार्ग में बाधक हैं, विनाशक हैं।
86. कषाय-प्रमाद की उग्रता वात्सल्य का घात कर अविश्वास को जन्म दे देती है, जिससे व्यक्ति अकेला रह जाता है।
87. कोई सज्जन-पुरुष उसको सहयोग देना भी पसन्द नहीं करता तब फिर उसके अन्दर हीन-भावना एवं संक्लेशता प्रविष्ट कर जाती है, परिणामतः वह स्वात्मघात का भी विचार करने लगता है **प्रमादी पुरुष।**
88. **निष्प्रमाद दशा** ही जीव को उभय-लोक में सुख-प्रदायक, त्रिलोक्य पूज्यता प्रदान करती है।
89. **प्रमाद** भव-वर्धक है, निष्प्रमादता ही भव क्षय का प्रबल साधन है, ऐसा जिनोपदेश है।

26

सत्यार्थ-सूत्र

सोच

1. व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वयं के **सोच** पर निर्मित होता है। सर्वप्रथम अपने **सोच** को सम्यक् करना चाहिए। **दूसरों को देखने की अपेक्षा, सर्वप्रथम स्वयं को देखना चाहिए।**
2. व्यक्ति का **सोच** ही ह्रास एवं विकास का कारण है।
3. व्यक्ति के **सोच** पर ही बंध और मोक्ष आलम्बित है।
4. **सोच के अनुसार ही जीवन बनता है।**
5. वर्तमान सोच पर ही भविष्य के जीवन की उज्ज्वलता निर्भर है।
5. यदि स्वयं का **सोच** पवित्र है तो प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति गुणवान् दिखेगी और जिसकी सोच ही विकृत है उसे व्यक्ति हो या परमात्मा सभी में दोष-ही-दोष दिखते हैं।
7. व्यक्ति एवं वस्तु को ठीक मत करो; वह तो पर-पदार्थ है। स्व का सोच ठीक करो, वह तो स्व का ही विचार है।
8. यदि व्यक्ति स्वयं के सोच को ठीक करने का निर्णय कर ले, तो क्षण-क्षण में उन्नति प्रारम्भ हो जाएगी।
9. उत्तम-पुरुषों की सोच भी उत्तम ही होती है और अधम-पुरुषों की सोच निम्न ही होती है।
10. प्रकृति को नहीं, अपनी विकृत सोच को बदलने का पुरुषार्थ करो।
11. यदि आप स्वयं की विकृत सोच को नहीं बदल पाये तो तुम्हारा जीवन जगति पर नवीन-नवीन विकृति खड़ी करेगा, उससे प्रभावित होकर भोले प्राणी अपना अहित करेंगे, जिसका दुष्परिणाम स्व-पर को भविष्य में भोगना पड़ेगा।
12. सोचो-जरा-सोचो, तुम्हारा सोच, शौच कब होगा? सोच की शुचिता के बिना तेरा संसार से उद्धार नहीं होगा।

13. संसार के दुःख एवं क्लेश से मुक्ति चाहिए तो **सोच को शौच** कीजिए।
14. श्रेष्ठ, पवित्र-सोच से युक्त पुरुष ही श्रेष्ठ-कार्यों की अनुमोदना कर सकेगा।
15. जिनकी सोच शुचिता शून्य है वह अच्छे भाव एवं कार्य की अनुमोदना भी नहीं करते, अपितु निन्दा करते हैं।
16. **क्षीण-पुण्यात्मा के पुण्य-परिणाम नहीं होते।**
17. पुण्य-कार्यों एवं पुण्य-कार्यों की अनुमोदना के लिए भी पुण्य चाहिए, यह ध्रुव सत्य है।
18. पुण्य-क्षीण साक्षात् विराजे तीर्थंकर की भी निन्दा करता है, उसे भान ही नहीं होता कि महा-पुण्यात्मा की निन्दा से पुण्य-क्षीण होता है तथा नीच-गोत्र का आस्रव होता है।
19. शरीर की चेष्टा सोच के अनुसार ही होती है और उसी से उपकार-अपकार होता है।
20. स्वयं की सोच पर ही स्व-पर का उपकार-अपकार होता है, इसलिए सोच पर नियंत्रण आवश्यक है।
21. **सोच की शुचिता** प्रत्येक प्राणी का कल्याण करा देती है।
22. सोच के विकृत होते ही अकल्याण मार्ग का द्वार खुल जाता है।
23. सर्व-उत्कृष्ट-साधना कोई है, तो वह है सोच को अस्ति में ले जाना, नास्ति से सुरक्षित रहे और सकारात्मक सोच बना कर रखे।
24. व्यक्ति की जीवन शैली उसके सोच के अनुसार बनती है।
25. सोच की ऊँचाईयाँ जीवन को उच्चता पर ले जाती हैं, वहीं सोच का लाघव जीवन को लघु ही बनाता है।
26. व्यक्ति के भोजन, भाषण, रीति, वस्त्राभूषण और संगति से उसके सोच का बोध हो जाता है।
27. जिसका सोच जैसा होता है उसके हाव-भाव वैसे ही मुख-मण्डल पर निर्मित होने लगते हैं।
28. मुख की भङ्गिमा आंतरिक सोच का दर्पण है।
29. भोजन और भावों की शुचिता से सोच शुचि होता है।
30. सोच विकृत होते ही इन्द्रियों में विकार होने लगता है सोच की शुचिता से इन्द्रिय संयमित होती हैं।

31. पर-भावों पर गया सोच आत्मा की शुचिता को समाप्त कर देता है।
32. अपना सोच पर-पदार्थों से भिन्न करना ही साधक का परम-धर्म है।
33. जो पर-सोच व पर-भावों से भिन्न हो जाता है उसमें आत्मशान्ति का स्रोत प्रस्फुटित हो जाता है।
34. **पवित्र-सोच** से विश्व-बंधुता का सूत्र उद्घोषित होता है। **संकुचित-सोच** सम्प्रदाय, पंथ, संतवाद में समाप्त हो जाता है।
35. जिस पुरुष का विराट्-सोच होता है; वह विश्व का मित्र बनकर जीता है और मरण के उपरान्त भी जगत के लोगों के आस्था के हृदयों पर राज्य करता है।
36. आत्म-शुचिता तभी प्रकट होगी जब प्राणी के अन्तःकरण में पवित्रता का वास होगा।
37. तुच्छ-सोच वालों की दयनीय दशा होती है, ज्ञानीजन अपने सोच पर अवश्य ही सोचते हैं।
38. तृष्णा से पीड़ित सोच संसार में जीव को सर्वाधिक क्लेश का कारण बनती है।
39. क्लेश- मुक्ति की जिसके मन में भावना है, उस भव्यवर को सर्वप्रथम स्व अन्तःकरण से तृष्णा को पुरुषार्थपूर्वक पृथक् करना होगा।
40. मोही-जीव ही परिग्रह का संचय करता है।
41. जिसके अंतरंग में मोह-लोभ से रंजित सोच होगी वही परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानकर परिग्रहानन्दी रौद्र-ध्यान में लीन होगा तथा रौद्रकार्य करने में अग्रसर होता है।
42. व्यक्ति को अपना सोच अर्थवान बनाना चाहिए, अर्थ-विहीन सोच निन्दा-उपहास एवं क्लेश का कारण बनता है।
43. विज्ञ-पुरुष पर को अपना समय व्यर्थ में देना तो दूर, अपितु स्वयं भी व्यर्थ के सोच में समय व्यतीत नहीं करते।
44. जो **सोच** बुद्धि में विकल्प खड़ा करे, ऐसे सोच को धिक्कार है।
45. श्रेष्ठ प्रज्ञ-पुरुष ही अपना सोच शुचिमय बना पाते हैं और तदनुकूल पवित्र-आचरण करते हैं।
46. श्रेष्ठ-विचार विशिष्ट पुण्योदय के काल में ही आते हैं, पुण्य के अभाव में उत्तम-सोच उत्पन्न नहीं होता है।
47. भावों की शुचिता सोच को शौच बना देती है।

48. जिसका सोच पावन होता है; उसका सर्व जीवन ही पावन हो जाता है। जीवन की पवित्रता व्यक्ति के सोच पर आलम्बित है।
49. रक्त के दूषित होने से शरीर में रोग होते हैं और सोच विकृत होते ही चित्त-विशुद्धि का ह्रास होता है।
50. अशुभ-सोच के नियोग से चित्त दूषित होता है; इसमें संशय नहीं है।
51. सोच की निर्मलता के लिए सद्-शास्त्रों का स्वाध्याय अनिवार्य अंग है।
52. विश्व-बंधुत्व की सोच सम्राट् पद की ओर ले जाती है।
53. विराटता का विचार उसी के अन्दर प्रकट होता है जिसका विकास निश्चित है।
54. अल्पधी, पुण्यक्षीण का सोच भी तुच्छ होता है हीन-जनों का भोजन, भाषण, व्यापार हीन ही होता है।
55. व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सोच पर निर्भर है। **जैसा सोच होता है, वैसा ही व्यक्तित्व निर्मित होता है,** इसलिए जिन्हें अपना व्यक्तित्व श्रेष्ठ बनाना है उन्हें सर्वप्रथम अपना सोच श्रेष्ठ बनाना चाहिए।
56. सोच को विराट्-विशाल करो, जिसमें विश्व-बंधुत्व समाहित हो।
57. व्यक्ति के सोच की शुचिता यही है कि शत्रु में भी मित्र-भाव प्रकट हो जाये।
58. पवित्र शोच वाले प्रत्येक प्राणी के अन्दर भगवान्-आत्मा का दर्शन होने लग जाए।
59. निम्न सोच में पंथ, परम्परायें, राग-द्वेष, क्लेश, ईर्ष्या, डाह, मात्सर्य पनपता है और विराट्-सोच मैत्री, वात्सल्य, प्रमोद, करुणा, संवेग, वैराग्य को बढ़ाता है।
60. व्यक्ति का सोच पवित्र होता है तब भोजन-भाषण दोनों ही पवित्र होते हैं।
61. स्वच्छ भोजन एवं स्वच्छ भाषण पाप-क्षय, पुण्य-वृद्धि का कारण बनता है।
62. स्वच्छ-भोजन, स्वच्छ-चित्तवृत्ति से कोरोना जैसी महामारियों से जीवों की रक्षा होती है, लोक में सुख-शान्ति की वृद्धि होती है तथा दुःख-क्लेश की हानि होती है।
63. अपने और अपनों के सुख-दुःख में सोचने वाले वसुन्धरा पर बहुत हुए, पर जिनसे परिचय नहीं उनके सुख-दुःख में सोचने वाले साधु-पुरुष बहुत ही अल्प होते हैं, जो निःस्वार्थ वाले हों।
64. स्वयं की पीड़ा जैसी पर की पीड़ा पर विचार वे ही कर पाते हैं, जिन्होंने अपनी पीड़ा को अंतरंग से जाना है।

65. पर के दुःखों पर हास्य मत करो, अपितु कर्म-विपाक का चिंतन कर अपने सोच को शौच करो।

66. धन-धरती कुटुम्ब से वर्धमान को वर्धमान मत स्वीकारो, अपितु जो करुणा, दया, मैत्री, वात्सल्य से पूर्ण हैं; प्राणिमात्र के प्रति प्रशस्त सोच रखते हैं वे जन ही तो बन पायेंगे सच्चे वर्धमान।

67. व्यक्ति की कार्य-शैली एवं भोजन-पद्धति व्यक्ति के सोच का बोध करा देती है, जैसा विचार होता है वैसा ही व्यक्ति का आचार बनता है।

68. **प्रत्येक कार्य में कारण निहित रहता है,** यह सिद्धांत का नियम है। सोच भी पुण्योदय-पापोदय पर आलम्बन करता है।

69. क्षीण-पुण्य पर विचार भी हीन-हीन अर्थात् पापाचार, मायाचार, कामाचार रूप होते हैं।

70. पुण्योदय-तीव्रता पर व्यक्ति का सोच शिखर पर निवास करता है।

71. धर्म-धर्मात्माओं के मध्य वास करने के विचार, तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय पर दृष्टि, सदाचार सद्विचारों का उदय रहता है पुण्य के उदय में।

72. ज्ञानीजन अपने सोच को इतना निर्मल रखते हैं; जिससे सम्पूर्ण विश्व के प्रति बंधुता का भाव प्रकट हो जाता है।

73. ज्ञानी अन्य जीव को तो दुःख-क्लेश देता ही नहीं, अपितु स्वयं में भी सुखी रहता है।

74. सोच से व्यक्ति के भावों में ही नहीं, अपितु देह के अंग-अंग में परिवर्तन होता है।

75. विशुद्ध-सोच, हर्षित-चित्त, गद्गद् प्रमुदित भाव-दशा अंग-अंग को आकर्षकता प्रदान करती है।

76. **अशुभ-सोच कीचड़ है, जो दुर्गन्ध-पूर्ण है।**

77. कीचड़ से लिप्त लोहा जंग खाकर नष्ट होता है; उसी प्रकार अशुभ-विचारों की जंग में सद्-विचार, उच्च-आचार, प्रज्ञा की विशदता, भावों की निर्मलता, जीवन की विकासशीलता क्षण-मात्र में नष्ट हो जाती है और जीवन कष्टमय हो जाता है।

78. सोच की विशालता व्यक्ति को जाति, पंथ, कुल, सम्प्रदाय, क्षेत्रता, राष्ट्रता से अत्यंत ऊँचा खड़ा कर देती है।

79. उसे प्राणिमात्र अपना स्वीकारता है, जिसका सोच विशाल होता है।
80. व्यक्ति को अपने सोच और स्वभाव में परिवर्तन लाना चाहिए, एकमात्र स्वयं को ही विशेष नहीं देखना चाहिए।
81. सामान्य भी देखो, विशेष के विकल्प में आप कहीं वात्सल्य-भाव एवं करुणा से दूर तो नहीं हो रहे हो?
82. यदि आप समाज-बंधु, राष्ट्र-भावना से दूर खड़े हो गए, तो फिर आप हीन भावना से ग्रसित हो जायेंगे, आपकी सुख-शान्ति समाप्त हो जाएगी।
83. अपना व्यक्तित्व विराट् बनाना चाहते हैं तो सोच की शुचिता को वर्धमान करो।
84. व्यक्ति के सोच की लघुता पंथ, जाति, सम्प्रदाय, राग-द्वेष, ईर्ष्या-डाह को जन्म देती है, फिर वह जगति को दुःख के महागर्त में डाल देती है।
85. व्यक्ति के सोच की यही शुचिता है, जो कि शत्रु के अन्दर भी मित्र-भाव उत्पन्न कर दे।
86. प्राणिमात्र में भगवानात्मा का बोध करा दे, स्व जैसा व्यवहार पर के प्रति भी प्रकटा दे तथा स्वार्थीजनों की दुर्गन्ध को समाप्त करा दे। यह है समाज सत्ती सोच!

27

सत्यार्थ-सूत्र

अनुग्रह

1. उन जीवों का जीवन ही धन्य है जो अपने जीवन के अंश-अंश को अर्थात् प्रत्येक क्षण को स्व-पर उपकार में लगाए हैं।
2. उपकार-भाव के बिना न संसार-सुख की प्राप्ति होती है न परमार्थ- सुख की।
3. उपकार के परिणाम पुण्यात्मा भव्य-जीव के ही होते हैं, पुण्यहीन किसी का उपकार भी नहीं कर पाएगा।
4. उपकार-शून्य व्यक्ति के दोनों हाथ बकरों के गले में लटके दो-स्तनों के समान हैं जो मात्र गले के भार हैं; किसी को दुग्ध प्रदान नहीं करते, उसी प्रकार उपकार-हीन पुरुष पृथ्वी पर भार हैं।
5. करुणाशील, उपकारी-जन हरे-भरे तरु-तुल्य हैं, जो पर-उपकार हेतु स्वयं को फलों के भार से युक्त किए हैं, वह स्वयं फल सेवन नहीं करते।
6. तरु की तरह **सच्चे उपकारी** वे होते हैं, जो स्वयं के परिग्रह को पर-उपकार में समर्पित कर देते हैं।
7. सज्जन-पुरुष स्वयं कष्ट सहन करके भी पर-का उपकार करते हैं, फलदार वृक्षवत।
8. जैसे फलवान वृक्ष पथिकों के पत्थरों की मार सहकर भी जगत् को स्वादिष्ट, मधुर, रसपूर्ण फल प्रदान करते हैं।
9. सज्जन, उपकारी-मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर; अपने प्राणों की भी चिंता छोड़कर पर के प्राणों की रक्षा करते हैं, महामारी में वैद्यों के समान।
10. **सच्चा-उपकारी** ही नरोत्तम होता है; जो कि उपकार के बदले में प्रति-उपकार की भावना नहीं रखता है, अपितु निःस्वार्थ भाव से पर का उपकार करता है।
11. बिना उपकार के न व्यवहार धर्म पलता, न ही परमार्थ, **उपकार-भाव** भी वस्तु का धर्म है।

12. **अनुग्रह धर्म** विराट् है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपकार करता है तथा स्व-स्व का भी **उपकार** करता है।
13. सज्जन एवं दुर्जन दोनों को चैन नहीं पड़ती; एक को पर-उपकार किए बिना और दूसरे को पर-अपकार किए बिना।
14. सज्जन को उपकार करने का पूर्व-अभ्यास है, उससे प्रेरित होकर वह उपकार ही उपकार करता है।
15. दुर्जन को भी पर-अपकार करने का पूर्व-अभ्यास है, इसलिए उसे अनुपकार किए बिना शान्ति नहीं मिलती, पूर्वाभ्यास की यही महिमा है।
16. वे जन ही श्रेष्ठ हैं; जो सदा ही सुकृत्य का संस्कार अपने अन्दर डालते हैं।
17. एक बार खोटा संस्कार आत्मा में आ गया वह जीवन में नहीं मालूम कब उदय में आ जाए?
18. जीवन के चरम-उत्कर्ष-काल में खोटा पूर्वाभ्यास कहीं आ गया, तो सम्पूर्ण उत्कर्ष क्षणमात्र में पतन में बदल जाता है।
19. जीव के अन्दर यदि उपकार करने के संस्कार आ गए तो वह अंतिम श्वास तक परोपकार ही करेगा।
20. मृत्यु के उपरांत भी उपकार करने वाले का यश जीवन्त रहता है।
21. भूत-भावी-वर्तमान, घड़ी, घण्टा, मिनिट, पल, निमेष, आवली, युग, संवत्सर, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, हुंडावसर्पिणी, कल्पकाल ये सब व्यवहार काल के भेद हैं तथा वर्तना लक्षण 'निश्चय-काल' है।
22. जीव एवं पुद्गल को गमन में उपकारी 'धर्म-द्रव्य' है। लोक एक ऐसा द्रव्य है जो क्रियावर्ती शक्ति सम्पन्न है।
23. धर्म द्रव्य जीव-पुद्गल को उदासीन-निमित्त से उपकार-रत है गमन क्रिया में, जैसे मछली के लिए सहकारी पानी होता है।
24. जीव एवं पुद्गल द्रव्य को ठहरने में कोई उपकारी द्रव्य है, उसका नाम है अधर्म द्रव्य।
25. अधर्म द्रव्य उदासीन रूप से सहकारी होता है ठहरने में, जैसे पथिक के लिए वृक्ष की छाया।
26. स्वेच्छा से पथिक छाया में रुकना चाहता है, तो वृक्ष की छाया उपकारी है बलात् नहीं।

27. जड़ द्रव्यों से भी चैतन्य का उपकार होता है।
28. इन्द्रियजन्य सुख-दुःख, जीवन-मरण, शरीर, मन, वचन, प्राण-अपान ये सब पुद्गल-कृत जीव का उपकार है।
29. भोजन-पानी आदि के माध्यम से संसार में जीव अपने द्रव्य-प्राणों की रक्षा करता है, यह रक्षा भी पुद्गल-कृत ही है।
29. पुद्गलद्रव्य पुद्गल का भी उपकार करता है जैसे कि दुग्ध के द्वारा शक्कर का मल हटता है, साबुन से वस्त्रों का मल हटता है, बालू-सीमेन्ट के संयोग से भवन शक्तिमान बनता है, जूठे बर्तनों को राख से स्वच्छ किया जाता है, यह सब पुद्गल-कृत पुद्गल का अनुग्रह है।
30. गुरु शिष्य को तत्त्वज्ञान प्रदान करके, दीक्षा-शिक्षा संस्कार देकर उपकार करते हैं तथा शिष्य गुरु-आज्ञा का पालन कर उनकी सेवा कर गुरु का उपकार करता है।
31. माता-पिता संतान को जन्म देकर पालन-पोषण कर उपकार करते हैं तथा संतान माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा कर कुल-परम्परा की रक्षा कर उनका उपकार करती है।
32. गाय को गोपाल ने घास-पानी देकर उपकृत किया; तो गाय द्वारा दुग्ध, गोबर, बछड़े देकर उपकृत किया जाता है।
33. किसान वृक्षों को खाद-पानी देकर उपकृत करता है वृक्ष किसान को फल-पुष्प, ईंधन आदि देकर उपकृत करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परस्पर उपकार देखा जाता है।
34. मानव का धर्म है, उपकारी के उपकार को स्वीकार कर कृतज्ञता के धर्म को पालन कर मानवता का परिचय दे, यही साधुता है।
35. संसार में पापी-जीवों की संख्या तो प्रचुर है ही, परन्तु महापापी भी कम नहीं हैं।
36. पाँच पाप करे तो पापी होते हैं, पर जो उपकारी के उपकार को काम निकलते ही शीघ्र भूल जाते हैं, वे मूढ़-जन महापापी संज्ञा को प्राप्त होकर पृथ्वी पर भार बनकर जीते हैं।
37. सज्जन-पुरुष कभी भी अपने उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करते हैं, उपकारी के उपकार को हर-समय ध्यान में रखते हैं।

38. वे (कृतज्ञ) ही जीवित-साधुता का दर्शन भूलोक को कराते हैं। ऐसे पवित्र-हृदयी लोगों से ही वसुन्धरा की शोभा है।

39. उपकारी के उपकार भूलकर जो कृतघ्नी पृथ्वी पर जी रहे हैं, वे मही पर काँटों के तुल्य हैं; वे सज्जनों के हृदय में चुभन उत्पन्न कर तीव्र-पाप का बंध कर दुर्गति के पात्र बनेंगे।

40. ऐसे पुष्प का जीवन स्वीकार करो जो नाली से पानी लेता है और बदले में सुगंध देता है।

41. गन्ने के समान बनो, जो नीर ग्रहण कर मधुर रस देता है। गाय बनो; पानी पीकर दुग्ध देती है, परन्तु बैल मत बनो, उसे पानी क्या रस भी दो, फिर भी मात्र मूत्र ही देता है।

42. काल-नाग विषधर भी मत बनो, वह मधुर-दुग्ध पीकर भी विष ही उगलता है।

43. **परोपकारी उभय-लोक में सुखी होता है।** वर्तमान में निर्लोभता से युक्त होकर यशधन से युक्त होकर सुखी होता है तथा भविष्य पर्याय में सुकृत्य शुभ-भावों के योग से स्वर्गादि के सुख को प्राप्त करता है।

44. प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह धरती पर भार बनकर न जिए, अपितु स्व-पर दोनों पर उपकार कर धरती पर सुन्दर उपहार बने।

45. करुणापूर्ण सहृदयी जीवों के अंतःकरण में ही पर-उपकार के भाव आते हैं; स्वार्थी, लोलुपी और विषयों में आसक्त चित्त वाले मनुष्यों के अन्दर किसी के उपकार करने के भाव ही नहीं होते।

46. स्व-परिणामों से मिलो; आपकी भाव दशा क्या है?

47. अहो मानवो! मानवता न रोने पाए; परस्पर उपकार-भाव का त्याग मत कर देना।

48. आज आपने पर का उपकार किया है, समय आने पर वह भी आपका उपकार करेगा।

49. ज्ञानी! सबके दिन एक-से नहीं होते, इसलिए अहं में नहीं मृदुता में जियो।

50. ज्ञानियो! प्रकृति से कुछ तो शिक्षा ले लो; प्रकृति अपना उपकार करना बंद कर दे, तो क्या आपका जीवन चलेगा? प्रातः से शाम तक आप प्रकृति से उपकृत होते देखे जाते हैं।

51. सूर्य का प्रकाश, आकाश का आच्छादन, चन्द्रमा की चाँदनी, धरती पर उगती वनस्पति, कलकलरव-युक्त सागर, सरिताओं-सरोवरों का शीतल नीर, पर्वतों की शृंखलाएँ, वन-उपवन, बीहड़-जंगल, वनचर, जलचर, थलचर, नभचर, नागरिक, वनवासी ये सभी तो उपकार करते हैं।
52. यदि प्रकृति का उपकार हट जाए, तो यह धरा मानव-शून्य हो जाएगी।
53. मात्र उपकार के भोक्ता बनकर ही मत जियो, उपकार के कर्ता भी बनना सीखो। प्रकृति से यही भूतार्थ-शिक्षा प्राप्त करो।
54. कर्म की प्रबलता में जीव कष्टों के पर्वतों पर आरोहित होता है, उस काल में प्रज्ञा भी कार्य करने में असमर्थता प्रकट करने लगती है, संबंध भी विच्छिन्न होने लगते हैं। जैसे जीर्ण-भवन की दीवारें गिरने लगती हैं, वैसे बने कार्य भी बिगड़ने लगते हैं।
55. इस स्थिति में टूटती मानवता पर करुणा एवं उपकार की औषधि का प्रयोग करना अनिवार्य है।
56. समय का संक्रमण विचित्र ही होता है, आपके पास सामर्थ्य है, उसका उपयोग भरपूर करो।
57. **दुःखीजनों का उपकार** आपके पुण्य एवं यश-वृद्धि का कारण है।
58. जो स्वयं में करुणा से आर्द्र-चित्त होता है वही परोपकार के भाव उत्पन्न कर पाता है।
59. **उपकार** स्व-कारुण्य, दुःखभूत आंतरिक पीड़ा का प्रतिकार है।
60. **उपकार-शील** दूसरे की पीड़ा को गंभीरता से विचारता है, पीड़ित की पीड़ा को समझकर उसकी पीड़ा-हरण का पुरुषार्थ करता है।
61. अशुभोदय पर आवश्यकताएँ तो रहती हैं, पर वस्तुएँ अनुपलब्ध रहती हैं, उस समय हृदय पर क्या बीतती है? इस अनुभूति के साथ उपकारी परोपकार का प्रयत्न करता है।
62. अहो प्रज्ञात्मन्! सबके दिन एक से नहीं होते, समय बदलता है, भाग्य भी बदलता है। इस सूत्र को हमेशा स्मरण में रखो।
63. लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों ही क्षेत्रों में उपकार की आवश्यकता है।
64. स्व-परोपकार के नियोग से निश्चय तथा व्यवहार धर्म चलता है।

65. पुण्य से प्राप्त भोग-सामग्री भोग में ही नहीं परोपकार में भी व्यय करो, जो कि भावी पुण्य-बंध कराके पुनः अभ्युदय का कारण बनेगी।

66. जो भव्य अपने प्राप्त द्रव्य को सात क्षेत्रों में लगाता है; वह सप्त-परम-स्थान को प्राप्त होता है।

67. भूखे को भोजन, प्यासे को पानी देना, रोगी को निर्दोष निरामिष औषधि देना, ज्ञान-पिपासु को शास्त्र प्रदान करना, भयभीत को निर्भय कराना, प्रत्येक प्राणी के प्राणों की रक्षा करके अभय-दान करना, अग्नि से पीड़ित, पानी की बाढ़ आदि से पीड़ित, मानवों-पशुओं-भूतादि से पीड़ितों को, प्राकृतिक-विपदाओं से पीड़ितों को, चाहे वे मनुष्य हों या तिर्यंच उनकी स्व-योग्यता, यथा-शक्ति पीड़ा का प्रतिकार करें। ये सब **उपकार क्षेत्र** हैं।

68. **उपकार भाव** उत्कृष्ट रखना चाहिए, क्योंकि उपकार करने वाले को प्रतिक्षण पुण्यास्रव होता है।

69. **उपकृत** वही हो पाएगा जिसका जितना भाग्य होगा, भाग्यहीन का परमात्मा भी उपकार नहीं कर पाएगा।

70. सागर विशाल है, पर पानी तो उतना ही ला पाओगे जितना बड़ा पात्र है।

71. ज्ञानी जन पात्र की योग्यता देखकर उसमें वस्तु रखते हैं, बिना पात्र-परीक्षा के जो अपनी अभीष्ट वस्तु रख देते हैं, वे बाद में पछताते हैं।

72. मलिन, भग्न व अन्य विकृत-पात्र में विवेकी-जन कीमती स्व-द्रव्य का निक्षेप नहीं करते। उसी प्रकार प्रज्ञ-पुरुष जिसका उपकार करते हैं, उसकी योग्यता का भी ध्यान रखते हैं।

73. पुण्यक्षीण को अल्प-द्रव्य देकर ही उपकार करें बहु-द्रव्य का वह क्षय कर देगा।

74. अभक्ष्य-सेवी का उपकार उसके अभक्ष्य सेवन का त्याग कराके ही करें, सप्त-व्यसनी के सप्त-व्यसन का त्याग कराएँ, अन्यथा किया गया उपकार आपका ही अपकार कर देगा।

75. पापी से पापों का त्याग कराना भी **उपकार** ही है। अन्य द्रव्य देने से बड़ा उपकार यही है कि सर्वप्रथम निर्व्यसनी बनाना।

76. दुःखी होने का मूल कारण व्यसन ही हैं। सच्चा उपकारी कभी पापी के पापों की पुष्टि नहीं करता है।

78. दुःखी, धन-हीन, पुण्य-हीन, साधर्मी-धर्मात्मा का **अनुग्रह (उपकार)** करना धर्म का ही अनुग्रह है।
79. धर्मात्मा सुरक्षित रहेगा तो धर्म सुरक्षित रहेगा।
80. धनीजन, ज्ञानीजन, साधुजन, वैद्य, गुरु ये सब हमारे राष्ट्र की शोभा हैं, इसलिए इनका भी यथा-योग्य सत्कार होना अनिवार्य है।
81. जिस देश में, राष्ट्र में, सम्प्रदाय में, कुल-परम्परा में, जाति में, अनुग्रह-भाव जीवित है, परस्पर उपकार के परिणाम हैं, वही देश-राष्ट्रादि उन्नतिशील, सुहृदयवान होते हैं।
82. **उपकारी जन** लोक में यश-ख्याति को प्राप्त होते हैं।
83. उपकारी-जनों का नाम उनकी मृत्यु के उपरांत भी जन-सामान्य जनों के श्रीमुख में जीवित रहता है।
84. उन धनिकों का धन किस काम का जो विपत्ति में किसी के काम न आ सके, उनका धन मात्र पुण्य का मल है जो महामारी जैसी विश्वव्यापी विपत्ति में किसी के काम न आ सके।

28

सत्यार्थ-सूत्र

धर्म

1. **धर्म** सम्प्रदाय नहीं, अपितु **धर्म** तो वस्तु का भूतार्थ, सत्यार्थ-स्वभाव है।
2. जो स्वभाव-भूत वस्तु-धर्म है उसे सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, परन्तु सभी सम्प्रदायों में परस्पर विरोध है, इसलिए सम्प्रदायों को मानने वाले अल्प ही हैं।
3. सम्प्रदाय लघु-लघु ही होते हैं, **धर्म** विराट् होता है तथा उसे मानने वाले भी विराट् ही होते हैं।
4. जल का स्वभाव शीतल है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जीव का स्वभाव चेतना एवं जानना-देखना है, इसे विश्व में कौन नहीं स्वीकारता? सभी स्वीकारते हैं। बाल-गोपाल वस्तु स्वभाव धर्म को जानता है; इसमें भेद नहीं, भेद तो सम्प्रदायों में है।
5. जो संसार से दुःखी प्राणियों को दुःख से निकालकर सच्चे-सुख को प्राप्त करा दे; उसका नाम **धर्म** है।
6. जहाँ प्रत्यक्ष में मूक पशु-पक्षियों को पीड़ित किया जा रहा हो, बुद्धि-पूर्वक प्राण-हरण किए जा रहे हों, ऐसे बलि कर्म युक्त क्रिया करने वाला धर्मात्मा कैसे? वह क्रिया भी धर्म संज्ञा को कैसे प्राप्त कर सकती है? कभी भी नहीं।
7. वर्तमान, भावी एवं भूत त्रैकालिक जो सुख-शांति का हेतु है वही **धर्म** है; अन्य नहीं, अन्यथा नहीं।
8. तत्त्वान्वेषी को मध्यस्थ होकर धर्म का सत्यार्थ-बोध करना चाहिए। पंथों, परम्पराओं, सम्प्रदाओं में धर्म-पक्ष को समझने का सम्यक्-पुरुषार्थ करना चाहिए। किस सम्प्रदाय में **धर्म** की बात कहाँ तक है?
9. साम्प्रदायिक नियमों को साम्प्रदायिक ही कहा जाए उसे **धर्म** न कहा जाए। धर्म को अपमानित न किया जाए, **धर्म** एक शुद्ध-अवस्था है जो विशुद्धता से प्रारंभ होता है।
10. स्व-विचारधारा मात्र धर्म का रूप नहीं है, क्योंकि विचारधाराएँ व्यक्ति विशेष

से पुष्ट व युक्त होती हैं। धर्म-व्यक्तिवाची नहीं है, **धर्म तो वस्तु के वस्तुत्व से युक्त है।**

11. प्रत्येक पदार्थ धर्म-दृष्टि से धर्मात्मा है, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि धर्म से रिक्त हो।
12. धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चार द्रव्य स्व-धर्म में ही सदाकाल रहते हैं, इनका विभाव रूप परिणमन नहीं होता।
13. स्वभाववाची धर्म कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परस्पर संयोग-संश्लेष को प्राप्त होने पर भी स्व-स्वभाव का त्याग नहीं करता।
14. कर्मों से संसार-अवस्था में जीवों का अनादि सम्बंध है, फिर भी जीव कर्म को जीव रूप नहीं कर सका तथा पुद्गल-कर्म भी जीव को पुद्गल-कर्म रूप परिणत नहीं कर सके।
15. अहो! अहो! अहो! यह द्रव्य की क्या अतुल सहज योग्यता; कभी पररूप परिणत नहीं होता, अपने सत्-धर्म का नाश नहीं होने देता।
16. परम-अध्यात्म तत्त्व में लवलीन योगीश्वर जिस धर्म का आश्रय लेते हैं; वह धर्म क्या है? **वह धर्म तो वही है–'जो है सो है'।**
17. परमात्मा ज्ञाता है, ज्ञाता ही रहेंगे, ज्ञाता ही थे। वे किसी के कर्ता-हर्त्ता न थे, न हैं, न होंगे।
18. कुटुम्ब-परिवार, राज्यव्यवस्था, विद्या-दान, भृत्य कर्मादि ये सब लौकिक-व्यवहार का धर्म है, मोक्षमार्ग से भिन्न है।
19. वीतरागता से युक्त मार्ग को स्वीकारना सम्यक्त्वभूत है तथा सरागता को स्वीकारना मिथ्यात्व है।
20. पंच-परमेष्ठी की विनय करना, सद्-पात्रों को भक्ति एवं विनय पूर्वक दान देना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजन करना, अष्ट मूल गुणों का पालन करना, यह **अविरत सम्यक्त्वी का धर्म है**।
21. अणुव्रत, शिक्षाव्रत एवं गुणव्रतों का पालन करना व्रती-श्रावकों का **व्यवहार-धर्म** है।
22. निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा धारण कर जिनलिङ्ग से मूलोत्तर गुणों का पालन करना, यह निर्ग्रन्थों का **व्यवहार-धर्म** है।
23. अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति-जन्य **धर्म** है। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय भूत है।

24. **निश्चय-धर्म** क्रिया-शून्य, स्वरूप लीनता भूत है।
25. आत्मधर्म ही मुख्यधर्म है; उस धर्म की प्राप्ति हेतु शेष धर्म हैं। साध्य-धर्म कर्मातीत अवस्था, जहाँ पर एकमात्र परमब्रह्म चैतन्य-चैतन्य ही रहता है।
26. न नय का विकल्प, न प्रमाण का विकल्प, न निश्चयधर्म का विकल्प, न व्यवहारधर्म, यही है परमात्म-दशा।
28. आत्म-साधक पर-धर्मों से अप्रभावित होकर जीता है, जो पर-धर्मों से प्रभावित होता है वह आत्म-धर्म की साधना से शून्य रहता है।
29. पर-भावों का ज्ञान व श्रद्धान आत्म-साधना में बाधक नहीं है, अपितु पर-भावों के धर्म में लीन होना आत्म-साधना में पूर्ण बाधक कारण है।
30. एकत्व **निज-धर्म** परम सुन्दर है।
31. पर-भावों का राग बंध का कारण है, इसलिए स्वभाव-सिद्धि की भावना रखने वाले आत्म-साधक के लिए निर्विकल्प भाव से स्व-साधना का अभ्यास सतत करते रहना चाहिए।
32. आत्म-पुरुषार्थ मात्र स्व-पुरुष के लिए होना चाहिए, पर-पुरुष के लिए किया गया पुरुषार्थ साक्षात्-सिद्धि का कारण नहीं है।
33. जब भी आत्म-सिद्धि होगी वह स्व के लिए स्व में किए गए पुरुषार्थ का ही परिणाम होगा।
34. एकत्व-विभक्त भाव में जाने के लिए किसी अन्य का आश्रय नहीं चाहिए, स्वाश्रयी स्वधर्म यह सिद्धान्त अकाट्य है।
35. धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि जो करता है, वही वीर पुरुष है।
36. मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि से तात्पर्य परमात्म-पद की सहज उपलब्धि।
37. परमात्मा के दर्शन तो जीव के पुण्य-योग से प्राप्त होते हैं।
38. परमात्म-पद की साधना के लिए भी पुण्य चाहिए, परन्तु परमात्म-पद जो पूर्ण शुद्ध-अवस्था है वह पुण्य-पाप दोनों के अत्यन्त क्षय से प्राप्त होता है।
39. परमात्मा पूर्ण निरंजन, निष्कलंक, निरामय दशा से युक्त होते हैं।
40. स्वयं ही सुरक्षित नहीं रहे, तो फिर अन्य जीवों पर करुणा कैसे कर पाओगे? स्व-रक्षा पर भी सजगतापूर्ण दृष्टि होना चाहिए।
41. योग्य-पुरुष जो शासन की सेवा कर सकता है, वह अयोग्य नहीं कर सकता है, इसलिए अपनी योग्यता को सुरक्षित रखो, यही विवेकशील करुणावंत की पहचान है।

42. काषायिक-भावों का उपशमन होते ही आत्म-गुणों का सहज उत्पादन होने लगता है, यही सत्यार्थ आत्म-सुख का उपादान है।
43. यथार्थ में दुःख व सुख कोई अन्य वस्तु नहीं है; अपितु आत्मा में कषाय की तीव्रता बढ़ती जाए तो प्राणी दुःखी होने लगता है और कषाय शान्त हो जाएँ, क्षमादि दस-धर्म प्रकट होते जाएँ वहीं से आत्म-सुख प्रकट होने लगता है।
44. आत्म-सुख की लीनता से, कर्म निर्जीर्ण कर मानव भगवत्ता की सिद्धि कर लेता है।
45. बहिरंग शत्रुओं को जन्म देने वाले भी अंतरंग शत्रु ही हैं।
46. अंतरंग में काषायिक-भाव उत्पन्न न हों तो अन्य किसी के प्रति क्रोधादि प्रकट न करें।
47. दूसरे के प्रति जो अशुभ-भाव उत्पन्न होता है, उन्हीं भावनाओं से उत्प्रेरित भिन्न-जन शत्रुता का व्यवहार करने लगते हैं।
48. सर्वप्रथम स्व के अन्दर कालुष्य-भावना का अभाव करना होगा, क्योंकि कालुष्यता की अनुत्पत्ति **क्षमा** है।
49. परकृत कष्ट देने पर भी जो पर को कष्ट देने के भाव ही न लाए वही **उत्तम क्षमा धर्म है।**
50. क्रोध का अभाव जहाँ होगा, वहीं **क्षमा-धर्म** होगा।
51. देह-साधना करके व्यक्ति कितना ही शरीर सुखा ले; यदि आत्म-साधना नहीं है तो परमार्थ-पद मिलना असम्भव है।
52. यदि कोई शरीर से प्रचंड तपस्या कर रहा है, परन्तु उपशमभाव का अभाव है तो उसका नाम **क्षमाशील** के बाद ही आएगा।
53. **क्षमा अंतरंग-धर्म है।** शत्रु-भाव का अभाव जिसके चित्त में है वह पृथ्वी पर चलता हुआ भावी-सिद्ध-भगवान् है। ऐसे साधकों द्वारा ही पृथ्वी पवित्र हो रही है।
54. धरती इन्हीं साधकों के स्पर्श से अपना अहो भाग्य स्वीकारती है, कामी-क्रोधी-दंभी लोगों से नहीं, वे पापीजन तो धरती पर भार हैं।
55. जिस व्यक्ति के अन्दर स्व के प्रति क्षमा-भाव नहीं, करुणा, दया-भाव नहीं, वह सम्यक्-उपदेशों को सुन भी नहीं पाएगा, फिर उनके अनुसार चलना तो अत्यंत कठिन कार्य है।

56. जो सदोपदेश के अनुसार चलता है वह स्व-पर का हित कर लेता है।
57. हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच-पापों का आश्रय वही लेता है जो क्षमाधर्म से अनभिज्ञ है।
58. वह मोहवश स्वयं-ही-स्वयं का शत्रु बनता है, स्वयं-ही-स्वयं से वैर धारण किए है, कारण पाँच पाप करेंगे तो संसार की नरकादि दुर्गतियों में नारकी, पशु-पक्षी बनकर किस प्रकार से पीड़ित किए जाएँगे, यह सभी जानते हैं।
59. अभक्ष्य-भोजन, असत्य कर्कश आदि भाषण, तन एवं मन दोनों को ही विकृत करते हैं, फलतः उससे महामारी जैसे महारोग उत्पन्न होते हैं।
60. मानव की मानवता फिर सिसक-सिसक कर रोती है, हाय! हाय! करती है।
61. अहो आत्मन्! स्व-पर करुणा करो, स्व को क्षमा करो। स्वच्छ भोजन, स्वच्छ भाषण करो। व्यर्थ में संचरण मत करो।
62. दृष्टि में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद, चर्या में अहिंसा जहाँ होगी वहाँ विश्व की सम्पूर्ण आपत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी।
63. जो शासन-आज्ञा स्व-पर हितकारी है उसे आस्था पूर्वक पालन करना चाहिए।
64. सबके दिन एक से नहीं होते, सब दिन एक से नहीं होते, ये दिन भी चले जाएँगे। धैर्य अनिवार्य है।
65. गुणी-जनों से प्रेम, दुःखी जनों पर करुणा, प्राणी-मात्र पर मैत्री-भाव तथा विपरीत मार्ग पर चलने वालों पर माध्यस्थ-भाव धारण करो, यही समीचीन धर्मोपदेश है।
66. वीर का अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच सिद्धांत विश्व-कल्याण के अंग हैं, यही स्वयं पर **परम-क्षमा-भाव** है।
67. क्षमा, सहिष्णुता, अनुकंपा ये तीन जहाँ होंगे, वहाँ प्रभुत्व-सत्ता स्वतः खड़ी हो जाएगी।
68. विश्व में जिनेन्द्रदेव का शासन जितेन्द्रियता के कारण ही वर्धमानता को प्राप्त है।
69. **क्षमा** निर्बलों का बल है तथा वीरों का आभूषण।
70. लोक में वे लोग सर्व-सामान्य जनों के मध्य भी पूज्यता को प्राप्त होते हैं जो धैर्य और क्षमा के साथ दूसरे की बात सुनते हैं।
71. **क्षमाशील** अपनी बात बतलाते तो हैं, परन्तु बलात् किसी पर थोपते नहीं हैं, बलपूर्वक आरोपित नहीं करते हैं।

72. सत्य तो यही है कि अपनी भावना रखनी चाहिए, परन्तु दूसरे की भावना को समझना चाहिए।
73. आपके विचारों से भी अधिक दूसरे के विचार अधिक हितकारी, भूतार्थ एवं श्रेष्ठ हैं तो उन्हें आस्थापूर्वक शीघ्र स्वीकार कर लेना चाहिए। इसमें अपना छोटापन नहीं मानना और आपकी बात लोग सुन रहे हैं तो मान नहीं करना चाहिए।
74. क्रोधाग्नि महा-ज्वाला है; जिसमें किसी की भी रक्षा संभव नहीं है।
75. इस ज्वाला में जो-जो प्रविष्ट होगा इन सबके सद्‌गुणों का भस्म होना नियतता को प्राप्त है।
76. बड़े-बड़े राजे-महाराजे, साधु-त्यागी-तपस्वी, धनपति-भिखारी, बाल-युवा-वृद्ध, ज्ञानी-पंडित, अज्ञानी-मूढ़ इनमें से जो भी क्रोध-हुताशन में जाता है; वह एक ही अवस्था को प्राप्त होता है और वह है संताप।
77. अग्नि में जो भी वस्तु आती है; उन सबकी एक-ही दशा होती है, उसका नाम राख भस्म है, इसी प्रकार से क्रोधाग्नि में गया प्राणी अपनी सद्‌गति, सद्‌गुण, मैत्री-भाव, प्रेम-स्नेह, वात्सल्य-प्रीति आदि गुणों को क्षण मात्र में राख कर लेता है।
78. अग्नि का शमन नीर से होता है, बिना पानी के अग्नि शान्त करना असम्भव है।
79. क्रोधानल को शान्त करने के लिए क्षमा सलिल की आवश्यकता है; बिना क्षमा पयस के क्रोध-ज्वाला का उपशमन नहीं हो सकता है, जिन्हें भी अपनी संयम-भावना एवं उसमें शोभते सद्‌गुण-मणियों की रक्षा का भाव हो तो वह क्षमा वारि का प्रयोग करें, यही **सत्यार्थ-सूत्र** है।
80. सार यही है कि—**क्षमा** आत्मशांति का परम द्वार है, इसलिए प्रत्येक हितेच्छु को क्षमा-भाव धारण करना चाहिए।
81. मानव जीवन में जन्म से प्राप्त कषाय का नाम '**मान-कषाय**' है।
82. मानव की श्वास-श्वास में '**मान**' झलकता है।
83. अहो प्रज्ञ! विचार कर; जिस पर मान-कषाय इठला रही है वह वस्तु तेरे से अत्यन्त भिन्न है और जो अभिन्न है उस पर तेरा लक्ष्य नहीं है।
84. शुद्ध-ज्ञानदर्शन; ये जीव द्रव्य के अभिन्न गुण हैं।
85. यदि जीव स्व-गुणों पर विवेकपूर्ण विचार कर ले तो **अभिमान** क्षणमात्र में विलीन हो जाए।

86. कषायी प्रशंसनीय कैसे हो सकता है? कषायी तो निंदनीय ही होता है।

87. **मानी** स्व-पर को प्रतिपल क्लेश प्रदान करता है; कभी हसता है, कभी रोता है, बिचारे के भाग्य में यही लिखा है।

88. सत्यार्थ तत्त्वार्थ का निर्णय मान के निर्हरण, **मार्दव-धर्म** के सद्भाव में ही सम्भव है।

89. शीतल नीर में मुखावलोकन होता है; उष्ण उबलते पानी में मुख नहीं दिखता, उसी प्रकार से जब चित्त कषाय की गर्मी से शान्त होता है, सामान्य-अवस्था में होता है तभी वस्तु के यथार्थ वस्तुत्व का निर्णय होता है, इसलिए तत्त्व-निर्णय के पूर्व अपने आपको पूर्ण सहजता में स्थित करें, फिर आप निर्णय करेंगे तो आपका निर्णय विशिष्टता से युक्त विराटता को प्राप्त करेगा।

90. भद्र-भावों से युक्त शान्त-परिणामी पुरुष ही विशद तत्त्व-निर्णय की भूमिका में प्रवेश कर पाता है और फिर उसके निर्णय को जगति के लोग पूजते हैं।

91. सर्वज्ञता की सिद्धि जिस जीव को होती है वह सम्पूर्ण कषाय एवं इन्द्रिय विषयों पर विजय प्राप्त किए होता है।

92. जितेन्द्र-संज्ञा जिनको प्राप्त होती है ऐसे वे जिन होते हैं। ऐसे जैनों के वचन सदा वंदनीय होते हैं।

93. ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप एवं शरीरादि में जो अहं भाव नहीं रखता तथा इन मदों से रहित होकर जो जीवन जीता है, उसी को साक्षात् मोक्ष-तत्त्व का परम बंधु **मार्दव-धर्म** प्रकट होता है।

94. मान के अभाव में ही **मार्दव-धर्म** होता है।

95. जब व्यक्ति के विनाश का काल आ जाता है तब उसका **मान** वृद्धिमान होने लगता है।

96. जैसे दीपक बुझने के समय उसकी लौ और अधिक तेज होने लगती है, ऐसे ही मृत्यु के काल में श्वासें तेज होने लगती हैं, इसलिए विवेकशील नरों को चाहिए कि वह अपनी रक्षा करें।

97. अपने ही द्वारा अपने विनाश से बचें। मानी को न गुरु दिखते हैं, न प्रभु।

99. मान-कषाय से प्रभावित व्यक्ति प्रतिक्षण यही सोचता है कि मेरे मान की पुष्टि कैसे हो? और फिर वह मान की पुष्टि के लिए मायाचारी भी कर लेता है।

99. वह ख्याति, पूजा, लाभ के लिए अपनी सम्पत्ति भी दूसरों को दे देता है।

100. साधु भेषी मान के वश होकर अपनी सत्यार्थ-साधना के काल का भी बलिदान करने को तत्पर हो जाता है जैसे भूखा पशु भोजन के लिए कान उठाता है कि कहीं से भोजन प्राप्त हो जाए, ऐसे ही मान का भूखा साधु-भेषी भी चौकन्ना रहता है कि मेरी ख्याति का कोई साधन मिल जाए।

101. उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता इस बात से कि हमने जिनदीक्षा मोक्ष-तत्त्व की प्राप्ति के स्वानुभूति के लिए ली है कि मानानुभूति के लिए।

102. अहो आश्चर्य! मान कितनी क्रूरता उत्पन्न करा देता है? साधक भी साधना छोड़कर भगवान् बनने के लक्ष्य को छोड़कर, मान की पुष्टि के लिए जीवन जीता है।

103. ओहो! प्रभावना के नाम पर वह आत्म-प्रभावना छोड़ बैठता है।

104. धर्म-प्रभावना के लिए तो साधक की बाह्य-साधना ही बहुत है, उसके लिए नाना प्रकार के व्यर्थ के प्रपंच की आवश्यकता नहीं है।

105. आत्मार्थी मुमुक्षु एक-एक समय के आयुकर्म के निषेकों को अर्घवान समझता है, प्रत्येक समय को मोक्ष-तत्त्व की उपलब्धि हेतु आत्म-संस्कार करता है कि वे संस्कार मेरे आत्म-प्रदेशों मात्र पर रहें जो कि मुझे मेरा मोक्ष-तत्त्व प्रदान करा दें।

106. मानादि कषाय तो मल है भाव एवं द्रव्य कर्मों का, इसे अब क्या प्राप्त करना जिसने मुझे संसार के दुःखों के मध्य रोककर रखा है। अब तो **'मार्दव-धर्म'** का परम-रस विनय-गुण उससे मिलना है।

107. कितना ही पुरुषार्थ कर लो जब-तक जिनालय-देवालय का द्वार नहीं खुलेगा तब-तक देवाधिदेव के दर्शन कैसे होंगे? इसी प्रकार से साधक साधना कितनी ही अधिक कर ले, परन्तु जिसके भीतर पंचपरमेष्ठी, अपने ज्येष्ठ आचार्य-उपाध्याय-मुनि-भगवंतों, ज्ञानी-जनों, धर्मात्माओं की यथा-योग्य विनय भावना नहीं होगी तब-तक मोक्ष-तत्त्व की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि मोक्ष का द्वार तो विनय है।

108. मायाचारी रहित, भक्ति सहित जो विनय है वही मोक्ष का द्वार है।

109. भक्ति शून्य, मायाचारी सहित विनय मोक्ष का द्वार नहीं है, इसलिए पुनः पुनः समझो, अपनी भाव-दशा का स्वयं निर्णय करो कि मेरे अंतःकरण में क्या चल रहा है? स्व की परीक्षा स्व से ही कर लें तो बहुत ही अच्छा हो जाएगा।

110. सरलता का भाव **आर्जव धर्म** है।

111. जहाँ माया-परिणामों पर नियंत्रण होता है, वक्रवृत्ति से रहित अवस्था, सहज जीवन जीने की शैली **'आर्जव-धर्म'** है।

112. मानव की मानवता के दर्शन वक्र-हृदयी में नहीं होते, मानवता के दर्शन वहीं होते हैं जहाँ पर भावों में सरलता होती है।

113. सत्यार्थता तो यही है कि सरलता में मानवता ही नहीं, अपितु सरलता में भगवत्ता के ही दर्शन होते हैं।

114. जब तक भाव-पशुता नहीं आती तब तक कोई भी जीव पशु-पर्याय को प्राप्त नहीं होता।

115. जो जीव पल-पल में, पग-पग में मायाचारी के परिणाम रखता है, वह मानव-भेष में पशु ही घूमता है।

116. पशु का वक्र शरीर भावों की वक्रता का कुफल है।

117. अंग-अंग की वक्रता तिर्यंच के क्षण-क्षण के परिणामों की कुटिलता का बोध कराती है। अहो! यह वक्र शरीर सम्प्रति कार्य-रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण सारा जगत् जान ले कि—"मेरे द्वारा किए गए मायाचारी के परिणाम यह तिर्यंच पर्याय है।"

118. जो मनुष्य पर्याय में विचित्र, विकृत शरीराकृति वाले मिलते हैं वे सब पूर्वकृत मायाचारी का प्रसाद पा रहे हैं।

119. देह-रचना व्यक्ति की भाव-रचना का दर्पण है।

120. मन में कुछ, वचन में कुछ, शरीर की चेष्टा कुछ भिन्न ही करें, यही मायाचारी है।

121. ऐसी त्रि-योग की कुटिल-वृत्ति मायावी जन करते हैं, यद्यपि उन्हें भी बोध रहता है कि मेरी मायाचारी प्रकट हो ही जाती है, फिर भी बिचारे आदत के लाचार अपनी आदत के अनुसार मायाचारी करके, इस लोक में उपहास तथा पर-लोक में दुर्गति के पात्र बनते हैं।

122. **आर्जव-धर्म** सरलता की ओर जाने का उपदेश देता है।

123. जगति पर वे जीव ही धन्य हैं; जो अपने आपको सरलता की ओर ले जाने का प्रतिक्षण सम्यक्-पुरुषार्थ करते हैं।

124. वे भावी भगवान् हैं; जो सज्जनों के द्वारा वन्दनीय, पूज्यनीय, स्तुत्य हैं। ऐसे

सरल-स्वभावी भव्य-जीवों के द्वारा ही तो भू-मण्डल की शोभा है। सर्व-लोक-पूज्यता उनके चरणों में सदाकाल प्रणति निवेदन करती है।

125. महान् बनना है तो आज से नहीं; अभी से सरलता में जीना प्रारंभ कर दो। मायाचारी की प्रशंसा भी आपकी निन्दा ही है। अन्य को आपकी सत्यता का ज्ञान नहीं है, परन्तु स्वयं की असत्यता का स्वयं को तो बोध है।

126. प्रकर्ष प्राप्त लोभ की निर्वृति **उत्तम शौच-धर्म है**।

127. शौच-धर्म शुचिता से पूरित है। जहाँ पर होगी निर्लोभता वहीं होगा शौच-धर्म।

128. लोभी के हृदय में कभी भी पवित्रता को स्थान नहीं मिलता, लोभी का अंतःकरण सदा अशुचिमय रहता है, भाव-विशुद्धता उसके पास दुर्लभ है।

129. सम्पूर्ण पापों का जनक लोभ है।

130. लोभी जीव परिग्रह संज्ञा से ग्रसित होकर खोटे-से-खोटे, छोटे-से-छोटे कार्य करने में संकोच नहीं करता है कुलीनता तो वहाँ स्वप्न में भी दृष्टव्य नहीं होती।

131. उसके प्रतिक्षण बिलाव परिणाम रहते हैं, जैसे बिलाव के प्रतिक्षण मूषक मारने के परिणाम रहते हैं, चाहे उसे चूहा मिले या न मिले, परन्तु दृष्टि उसकी चूहे पर ही रहती है।

132. ऐसी ही दशा लोभी की है, चाहे धन मिले अथवा न मिले, पर वह प्रतिक्षण अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही विचार करता है, इसलिए उसे आस्रव-बंध का अभाव नहीं है।

133. निर्लोभता आत्म-शुचिता का मुख्य कारण है।

134. लोक में व्यक्ति जो भी छल-कपट करता है वह धन-धरती, परिग्रह के पीछे करता है, पर जिसने परिग्रह का ही त्याग कर दिया है उसके लिए अब छल-कपट की आवश्यकता ही क्या?

135. जो वस्तु-स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही कहना; न न्यून न अधिक, यह सत्य धर्म है।

136. पर को संतापित करने वाले वचनों का त्याग कर स्व-पर हितकारी वचनों को बोलना **सत्य धर्म** है।

137. नवकोटि से सत्य को बोलना **उत्तम सत्य धर्म** है।

138. जहाँ सत्य होता है वहीं विजय-यश वर्धमान होता है और जहाँ सत्य नहीं वहाँ न विजय, न यश।

139. कर्ण-प्रिय वचनों को सम्पूर्ण-विश्व स्वीकारता है, पर कर्ण-कटु-वचनों को पशु भी नहीं स्वीकारता, फिर क्या नर, क्या देव, स्वीकार करेंगे? अहो मित्र! **प्रिय बोलो, हितकारी बोलो, सीमित बोलो।**

140. जिसका जीवन सत्य के साथ रहता है उन महानुभावों के साथ विश्व खड़ा रहता है, वहीं असत्यवादी के स्वबंधु भी नहीं होते, तो फिर अन्य कौन होगा?

141. वाणी में माधुर्य, गंभीरता, सरलता, वाक्-पटुता, वचन-माधुर्य-प्रियता जहाँ है उसके समक्ष अमृत भी नीरस है।

142. संसार में एक साथ सहस्त्रों जीवों को सुखी कोई कर सकता है, तो वह वाणी का मधुर वाक्-रस है।

143. वक्ता का हृदय जैसा होगा, वचनों का प्रयोग वैसा होगा।

144. वचन अमृत का भी काम करते हैं और विष का भी।

145. प्रिय-वाक्यों से समस्त-प्राणी संतोष को प्राप्त होते हैं और कटुक वचनों से सर्व-जगत् खिन्नता को प्राप्त होता है।

146. कोरोना जैसी महामारी तो क्रमशः बढ़ते-बढ़ते मारती है मानव जाति को, परन्तु कटुक-वचन, अरतिकर, भीतकर, सावद्य-वचनों के द्वारा क्रोधी, स्वार्थी, वंचक, सत्य-दया-धर्म शून्य विचार, कर्म-बंध पाप-बंध के विवेक से शून्य अपने अशुभ कर्ण-शूल वचनों से एक साथ कोटि-कोटि भव्यवर पुंडरीकों के हृदय-सरोवर में खिले विशुद्धि के सुमनों को क्षण-मात्र में भस्म कर देता है।

147. ऐसे ज्वलनशील वचनों से एवं तद्-वचनों को बोलने वाले से सदा सावधानी पूर्वक दूरी बनाकर रखना चाहिए।

148. भवन बनाने में कितना द्रव्य; कितना पुरुषार्थ लगता है यह विचार भवन जलाने वाले के अन्दर कहाँ? भावों की विशुद्धि में कितना पुरुषार्थ लगता है, उसकी क्या कीमत है, विशुद्ध-मोक्ष महल कैसे निर्मित होता है, यह अविचारवादी, प्रेक्षा-शून्य, कटुक हास्यवादी को क्या मालूम?

159. आप अग्नि से दूर रहते हो; उसी प्रकार ऐसे हितकारी वचनों के दरिद्रियों से सदा दूर रहना चाहिए, यदि स्वहित-भावना स्व के अन्दर है तो।

150. साथ ही ऐसे दुर्बुद्धियों पर भी करुणा एवं माध्यस्थ-भाव रखना।

151. धर्मरहित ऐसे जीवों के अन्दर भी सद्-भावना बनाकर चलना, जो स्वकर्मों से ही पीड़ित हैं, जो सु-स्वर नाम कर्म शून्य तथा दुःस्वर नाम कर्म के उदय से युक्त हैं। उन्हें भी शुभ-कर्मों का उदय प्राप्त हो।

152. प्रभावी पुण्य-पुरुष सहज ही मित-भोजी एवं मित-भाषी होते हैं।
153. मित-भोजन, मित-भाषण दोनों ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को वर्धमान करते हैं।
154. जो मधुर-गंभीर आगम-सम्मत बोलता है, उसे जगत् आस्था से समय निकालकर सुनता है।
155. बहु-प्रलापी, बहु-भोजी दोनों से ही साधु आत्म-रक्षा करते हैं। उनके विचारों का स्व-परिवार में ही सम्मान नहीं रहता, फिर अन्यत्र क्या कहा जाए?
156. जीवन में वे नर धन्य हैं जो सत्य-धर्म, भाषा-समिति, वचन-गुप्ति तथा सत्याणुव्रत का पालन करते हैं।
157. ये सभी व्रत अनर्थों से आत्म-रक्षा कराते हैं।
158. मौन सर्वश्रेष्ठ है जो सज्जनों की सभा में भी सम्मान प्राप्त कराता है।
159. आवश्यकता पर सीमित भाषण करें। जहाँ आवश्यकता न हो वहाँ मौन-व्रत धारण करें, परन्तु जहाँ पर धर्म का नाश हो रहा हो, क्रियाओं का ध्वंस हो रहा हो, सद्-सिद्धांत का व्यपलाप हो वहाँ पर बिना पूछे भी बोलना चाहिए, भूतार्थ सत्-सिद्धान्त की रक्षा के लिए, ऐसा आगम आदेश है।
160. आत्म-साधक के लिए मृदु-मधुर-गंभीर, मोक्षमार्ग के पोषक वाक्यों को ही बोलना चाहिए।
161. जिन वचनों से संशय रूप भ्रम का विच्छेद हो वही हितकर वचन बोलो।
162. उन वाक्यों का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए; जिन वचनों से संशय भ्रम खड़ा हो तथा लोग विपत्ति में पड़ जाएँ, ऐसा सत्य भी नहीं बोलना।
163. प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ-प्रवृत्ति की निवृत्ति स्वरूप **'संयम-धर्म'** है।
164. पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन षट्-कायिक जीवों की रक्षा करना, इन्हें कष्ट नहीं देना, यह छह प्रकार का **प्राणी-संयम** है।
165. पाँच इन्द्रिय एवं मन इन्हें वश करना, इनके विषयों से उपेक्षा भाव रखना, यह छह प्रकार का **इन्द्रिय-संयम** है।
166. बिना संयम-साधना के नर पशु के तुल्य है।
167. आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह ये चार संज्ञाएँ पशुओं के अन्दर भी हैं; इनमें मानव की कोई विशेषता नहीं है।
168. इन्द्रिय विषयों से विरक्ति अर्थात् इन्द्रियों का निरोध, इच्छाओं का निरोध कर

अपने अंतःकरण को विशेष विवेक-पूर्वक पवित्र रखना, संयमी जीवन जीना, व्यर्थ के कार्यों से आत्मरक्षा करना, व्रतों में दोष होने पर स्वगुरु के समक्ष आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार करना, पुनः वैसा दोष नहीं लगाने की प्रतिज्ञा धारण करना, ये मानव की विशेषता है। यही विशेषता मानव को पशुओं से भिन्न करा देती है। वही मानव एक दिन महा-मानवता को प्राप्त होता है।

169. कर्मक्षय के लिए जो साधना की जाती है वह उत्तम तप धर्म है। बिना तपाए जैसे स्वर्ण शुद्धता को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार से तप किए बिना आत्मा भी शुद्ध परमात्म-पद को प्राप्त नहीं होती।

170. शारीरिक-मानसिक शुद्धि का कारण तप है।

171. अधिक भोजन से शरीर रोग-ग्रसित हो जाता है, कारण पेट में विकृत-मल का संग्रह हो जाता है।

172. उपवास आदि तप के माध्यम से उदर को, पाचन-तंत्रों को भी विश्राम मिलता है जिससे उनकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है तथा पेट का मल पित्त के रूप में शरीर से बाहर हो जाता है, इससे शरीर शुद्धि हो जाती है।

173. अधिक इष्ट-गरिष्ठ भोजन से शरीर में धातु-वृद्धि हो जाती है; धातुवृद्धि से व्यक्ति के अन्दर विकारी-भाव प्रकट होते हैं जिसके कारण मन में अशुद्धता जन्म लेती है।

174. व्यक्ति अशुभ-भावों के कारण अनेक प्रकार के अशुभ-कर्म करने को तैयार हो जाता है। जिसका परिणाम राज्य-दण्ड से लेकर नरकादि दुर्गतियों में जाना होता है।

175. तप करने से मन की विकारी प्रवृत्ति का भी उपशम होता है।

176. मन-शुद्धि विश्व की सबसे बड़ी शुद्धि है, इसलिए अंतरंग एवं बहिरंग तपों को करते रहना चाहिए। उपवास, ऊनोदर आदि **बहिरंग तप** हैं। प्रायश्चित्त, विनय आदि **अंतरंग तप** हैं।

177. निर्ममत्व भाव से युक्त होकर स्व-वस्तु का त्याग करना दान है अथवा संयत के योग्य आहार-औषध-अभय तथा शास्त्र; ये चार प्रकार का दान करना **'त्याग-धर्म'** है।

178. श्रावकों के द्वारा वही वस्तु व्रतियों को देना चाहिए जिससे उनके सुतप-स्वाध्याय में वृद्धि हो।

179. ऐसी वस्तु कभी साधकों को प्रदान नहीं करनी चाहिए जो असंयम एवं राग-द्वेष का कारण बने।

180. **दान अहं नहीं; दान धर्म है।**

181. धर्म विवेक पूर्वक होता है। अविवेक पूर्वक दी वस्तु दान संज्ञा को प्राप्त नहीं होती, इसलिए दाता का कर्तव्य है जो द्रव्य आपके द्वारा दिया गया है उसका उपयोग क्या हो रहा है इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

182. उर्वरा भूमि में बोया गया बीज उत्तम फल को देता है तथा ऊसर भूमि में डाला गया बीज व्यर्थ चला जाता है।

183. साधक प्राप्त द्रव्य का उपयोग धर्म-ध्यान, तप, स्वाध्याय, जप में पूर्ण करता है, तो दाता को भी उसका फल प्राप्त होगा।

184. यदि दाता द्वारा प्रदत्त वस्तु का प्रयोग कोई अज्ञ विषय-कषाय, काम-भोग, अभक्ष्य-भक्षण, सुरा-पान जैसे पापों में लगाता है, तो दाता को भी नियम से दुर्गति-भूत फल की प्राप्ति होगी।

185. दान देना ही मात्र उद्देश्य नहीं होना चाहिए, अपितु देय-वस्तु के उपयोग पर पुनः-पुनः ध्यान रखना चाहिए।

186. पात्रदत्ती, समदत्ती, दयादत्ती के भेद से भी दान देखा जाता है।

187. उत्तम-मध्यम-जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्रों को औषध-शास्त्र-अभय-आहार ये चार प्रकार का दान हमेशा करते रहना चाहिए।

188. निर्दोष-निर्जन्तुक-रसायन, शुद्ध खाने-योग्य, अप्रतिष्ठित प्रत्येक-वनस्पति से युक्त औषधि पात्रों के अस्वस्थ होने पर निरोगता हेतु प्रदान करना चाहिए।

189. रक्त-मांसादि जैविक अशुचिमय-द्रव्य औषधि के रूप में न तो आहार में देना और न ही लेपादि शरीर पर करना, क्योंकि अशुचि-अभक्ष्य द्रव्य अकल्याणकारी हैं।

190. अशुचि-द्रव्य दान संज्ञा को प्राप्त नहीं होते। **दान सदा शुचिमय द्रव्य का ही दिया जाता है।**

191. औषधदान से दाता को सुन्दर, स्वस्थ शरीर की प्राप्ति होती है तथा जिस साधक को दान दिया है उसकी साधना भी स्वस्थ होती है।

192. अरहंत-वाणी में उपदिष्ट सात-तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, तीन काल, पंचास्तिकाय, षट्-लेश्यादि के कथन करने वाले चतुरनुयोगी ग्रंथों को तीनों पात्रों को प्रदान करना **शास्त्र-दान है।**

193. शास्त्र दान करने से श्रेष्ठ बुद्धि की प्राप्ति होती है, इसलिए सदा सद्-पात्रों को **शास्त्र-दान** करते रहना चाहिए।

194. जो साधक को अध्ययन करना हो; ऐसे शास्त्रों को भेंट करें, अन्य नहीं।

195. आगम-सिद्धांत शास्त्रों का प्रकाशन कराकर स्व-पर श्रुताराधना में सहयोग कर अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षय करें तथा जिनालयों में ग्रंथ विराजमान कर श्रुत-भण्डारों को वर्धमान करें।

196. धनहीन छात्रों को सहयोग कर अध्ययन कराएँ; उन्हें विद्वान् बनाकर देश-राष्ट्र-समाज एवं संस्कृति का विकास करें।

197. स्वयं की प्रज्ञा पवित्र, विशद है तो आगमानुसार जगत्-कल्याणार्थ स्व-उपयोग विशुद्धि हेतु नवीन ग्रंथों का सृजन करें, परन्तु जिन-वचनों के अनुसार ही कथन करें।

198. भाषा परिवर्तन तो करें, परन्तु सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों रहने दें। सिद्धान्तों के विरुद्ध जो व्याख्या होगी, वह आगम-शास्त्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होगी।

199. आगम तो पूर्वापर विरोध रहित, सिद्धान्तों की ही प्ररूपणा करते हैं। आप्तकथित वाणी, अविरुद्ध-वचन जो प्रवचन है वही मात्र शास्त्र हैं।

200. हिंसादि कर्मों की पुष्टि करने वाली पोथियाँ एवं किताबें आगम-शास्त्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होतीं, अपितु प्राणिमात्र के प्रति करुणा की व्याख्या जिसमें है वही **'धर्म-शास्त्र'** है।

201. जिसमें परस्पर उपकार की शिक्षा हो; मानव हित ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के हित की बात जिसमें हो वही यथार्थ में **'धर्म-ग्रंथ'** है।

202. दुःख-पीड़ा, अग्नि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, नदी-समुद्रादि की बाढ़ से पीड़ित-जनों के प्रति उपकार करने की शिक्षा, करुणा दान के रूप में जहाँ प्रेरणा दी हो ऐसे सद्-ग्रंथों को ही शास्त्र जानो।

203. कौटिल्य काम-भावना एवं हिंसा-पोषक पुस्तकें सद्-शास्त्र नाम को प्राप्त नहीं हैं।

204. सद्-शास्त्र में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक सर्व-जीवों की रक्षा का वर्णन होता है।

205. गृहस्थ व्यर्थ में वनस्पति का भी छेदन न करें।

206. साधु को किसी भी अवस्था में जीवों को किञ्चित् भी पीड़ित करने का आदेश नहीं है; सद्-शास्त्रों में।

207. उन्हीं शास्त्रों का दान करें जिससे विश्व-कल्याणी प्रज्ञा का विकास हो और आतंकी, नक्सली-बुद्धि का विराम हो। राष्ट्र, देश, विश्व के प्राणियों में परस्पर वात्सल्य-भाव हो, धर्म का प्रचार हो।

208. प्राणिमात्र पर करुणा, सभी जीवों के प्राणों की रक्षा करना, धर्मात्माओं की सुरक्षा अभय-दान है।

209. शाकाहार, निर्दोष-भोजन प्रदान करना दान है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों पात्रों को यथा-योग्य भक्तिपूर्वक दान देने से उत्तम, मध्यम, जघन्य फल की प्राप्ति होती है।

210. शरीरादि पर-पदार्थों से पूर्ण-ममत्व का त्याग करना **आकिंचन्य-धर्म** है।

211. स्वरूप में स्थिर-बुद्धि, परिग्रह-संज्ञा का विच्छेद, अपरिग्रह-भाव, अनिच्छा भाव में मग्नता, पर-भावों से पूर्ण उपेक्षा भाव की प्राप्ति ही **उत्तम-आकिंचन्य धर्म** है।

212. जगत् की स्त्री मात्र में माँ-भगनी (बहिन) भाव का जहाँ परिणाम है, पशु-वृत्ति से शून्य एकमात्र चिद्-ब्रह्म आत्म-स्वरूप में रमण है, एकीभूत चैतन्य-विलास है, पर-भावों से पूर्ण उदास, विकारी भावों से शून्य-दशा, परम **ब्रह्मचर्य-धर्म** है।

213. ऐसे वीतराग-धर्म का जो आश्रय लेता है वही भव्यवर समाधि एवं सिद्धि को प्राप्त कर, पुनर्भव का अभाव कर, कृतकृत्य परमात्मा हो जाता है।

29

सत्यार्थ-सूत्र

शिक्षा

1. किसी देश, राज्य, प्रान्त, नगर-गाँव, जनपद, समाज, परिवार, धर्म, सम्प्रदाय का विकास निहित है तो शिक्षा से, **जहाँ शिक्षा है, साक्षरता है वहाँ विकासशीलता है।**
2. शिक्षा के अभाव में किसी का विकास कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है।
3. सहस्त्रों शिक्षित जनों को एक मनुष्य क्षण मात्र में समझा सकता है, परन्तु एक अशिक्षित मूढ़ को सहस्त्रों शिक्षक-शिक्षित समझा पाएँ यह दुर्लभ कार्य है।
4. एक ज्ञानी शिक्षित-गुरु का शिष्य बनकर जीना श्रेष्ठ है, सहस्त्रों-मूढ़ अशिक्षित-शिष्यों की अपेक्षा।
5. ज्ञानियों का सम्पर्क यश-ज्ञान-सम्मान वृद्धि का कारण है, परन्तु अज्ञानियों का सम्पर्क मूढ़ता, अपयश, अपमान एवं अज्ञानता का प्रबल कारण है।
6. प्रज्ञ-पुरुषों को सदा ज्ञानी-सुशील जनों के साथ रहना चाहिए, अन्यथा एकाकी रहना ही श्रेष्ठ है
7. शिक्षित व्यक्ति की भाषा, प्रज्ञा एवं विवेक स्वस्थ होते हैं।
8. अशिक्षित व्यक्ति की भाषा-बुद्धि विवेक भिन्नता युक्त रहते हैं।
9. शिक्षा के साथ बुद्धि भी प्रशस्त होनी अनिवार्य है।
10. शिक्षा बहुत प्राप्त की, पर बुद्धि एवं विवेकशीलता प्राप्त नहीं कर सका जीव तो अच्छी शिक्षा मात्र प्रमाण-पत्रों का भार होगी, परन्तु समाज, देश, राष्ट्र, विश्व में तो क्या घर में भी उसकी कीमत नहीं होगी।
11. शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिकता की शिक्षा भी समाज के मध्य रहकर लेना चाहिए।
12. प्रत्येक स्थान पर पुस्तकीय-ज्ञान कार्यकारी नहीं होता है, सर्वत्र व्यावहारिक एवं अनुभवज्ञान के साथ पुस्तकीय-ज्ञान कार्यकारी होता है।

13. पुस्तकीय-ज्ञान आधार होता है, पर कार्य तो अनुभवभूत ज्ञान से ही होता है।
14. सर्व-प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं मेरे शत्रुओं की संख्या तो नहीं बढ़ रही है। सत्य की शिक्षा भी व्यक्ति की बुद्धि देखकर देना चाहिए।
15. अज्ञानी रहना श्रेष्ठ है, परन्तु दुष्ट-पुरुष की सेवा करके शिक्षा प्राप्त करना अच्छा नहीं है; शिक्षा के साथ शिष्टता भी प्राप्त होना चाहिए।
16. वह अमृत किस काम का जिसमें जहर मिला हो। दोनों ही मृत्यु के कारण हैं।
17. ज्ञान वहाँ से प्राप्त करो जहाँ ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति, ज्ञान का फल चारित्र हो।
18. चारित्रवान की सेवा से प्राप्त ज्ञान विद्या, यश व पूज्यता को प्राप्त कराता है, इसलिए विवेकशील लोग प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्वक ही करते हैं।
19. शिष्य प्रायः गुरुस्वभावशील होते हैं, गुरुजनों की प्रवृत्ति को तो शिष्य स्वीकारते हैं, इसलिए शिक्षक, विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी, कुशल, भद्र-स्वभावी होना चाहिए जिससे उसके छात्र (शिष्य) भी तद्गुणशील होकर राष्ट्र-धर्म-समाज-कल्याण की भावना से युक्त होकर यशवान बनें।
20. शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिष्य को ऐसी शिक्षा दे; जिससे वह नीतिवान-विभूतिवान होकर भी विनयवान रहे।
21. अहंकारी-मानी की नीति-विभूति सब पुण्य का मल मात्र समझो।
22. यदि सद्धर्म-शास्त्र गुरुजनों के प्रति विनयभाव का अभाव है, ऐसा विनयहीन शिष्य गुरु और स्वयं की हसी का कारण बनता है।
23. सुशील, विनयवान शिष्य स्व-पर के यशवृद्धि में कारण बनता है, इसलिए छात्रों को सद्गुणी बनाने का पुरुषार्थ शिक्षक को प्रतिक्षण करते रहना चाहिए।
24. अहंभाव, पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा- काम-भावना, शीघ्र कोप, गुरुजनों का अपमान, लोभ-माया परिणाम—ये सब विद्या एवं बुद्धिक्षय के प्रबल कारण हैं, इन बुराईयों से गुरु एवं छात्रों को सुरक्षित रहना चाहिए। यदि उपरोक्त हेतुओं से छात्र दूर नहीं होगा तो विद्या-वृद्धि असंभव है।
25. धर्म एवं राष्ट्र के पोषक छात्र ही होंगे। भावी समाज-राष्ट्र कैसा होगा इसका निर्णय शिक्षक एवं शिक्षा के हाथ में है।
26. देश-धर्म की यदि आप उन्नति चाहते हैं, तो शिक्षा धार्मिक, नीति व न्यायपूर्ण हो, सम्प्रदाय परस्पर सद्भावनापूर्ण हों, उसमें ईर्ष्या भाव का अभाव हो,

प्राणिमात्र में करुणाभाव उत्पन्न करने वाली हो, देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हो।

27. **शिक्षक** सद्विचार, सदाचारी, व्यसनमुक्त तथा धूम्रपानादि से रहित हो।
28. **शिक्षक मर्यादा का पालक हो,** अशुभ-भावों से शून्य तथा प्रशस्त भावों को प्रकट करने वाला, महापुरुषों के प्रति आस्थावान तथा प्रत्येक छात्र के प्रति स्नेहभाव से भरा हो।
29. राष्ट्र के प्रति समर्पित गुरु ही राष्ट्रहित भावना से भरकर शिष्यों को विशिष्ट-शिष्ट विद्या प्रदान करता है।
30. **सम्पूर्ण शिक्षाओं में अध्यात्म की शिक्षा सर्वोपरि है।** जिन्हें अध्यात्म-शिक्षा प्राप्त नहीं हुई वे इह-लोक, पर-लोक अर्थात् उभय लोक में दुःख को प्राप्त करने वाले हैं।
31. अशान्ति, क्लेश, ईर्ष्या डाह, असूया, मात्सर्य से अपने को वे कभी रिक्त नहीं कर पाएँगे अशिक्षित।
32. जगति पर अध्यात्म से भिन्न जो भी शिक्षाएँ हैं, वे मात्र भौतिक इन्द्रिय सुख की ही पोषक हैं; उनका मात्र एक ही उद्देश्य है कि किसी भी प्रकार से हमारे इन्द्रिय-सुखों की पूर्ति होना चाहिए।
33. राजनीति, कूटनीति, व्यापार-नीति, असि-मसि-कृषि-विद्या-वाणिज्य, कलादि जो भी शिक्षाएँ हैं, वे परमार्थ से पूर्ण पृथक् हैं, **एकमात्र अध्यात्म ही परमार्थ-विद्या है।**
34. जीवन का अंत अध्यात्म-विद्या से होना चाहिए।
35. लोक की कोई भी वस्तु परलोक में साथ नहीं जाएगी, यह ध्रुव सत्य है।
36. हाय-हायकर व्यक्ति पर-वस्तु को संगृहीत कर सकता है, पर स्थायित्व नहीं दे सकता है।
37. वह मात्र ध्रुव ज्ञायकभाव स्व-ब्रह्म निजवस्तुत्व को ही स्व के साथ रख सकता है। अन्य के अर्जन में जो पापास्रव कर कर्मबंध किया है उसे ही पर-भव में साथ ले जाएगा।
38. एकत्व-भाव ही मात्र हमारा है, दूसरा अन्य कोई पर-भाव हमारा नहीं है। इस ध्रुव सत्य को भूल जाना, यही तो अनादि का अज्ञान-भाव है।
39. इस अज्ञान-भाव का त्याग कर स्वात्म-सिद्धि हेतु दया-दम-त्याग-समाधि का आश्रय प्राप्त करो।

40. एकमात्र आत्मधर्म ही साथ देगा। पक्षों, पंथों, सम्प्रदायों का राग अन्य सम्प्रदायों के प्रति द्वेष-बुद्धि तो उत्पन्न करा सकता है, परन्तु आत्म-तत्त्व के सत्य के पास नहीं ले जा पाएगा, इसलिए अध्यात्म-विद्या अमृत का पान करो एवं व्यर्थ के द्वेष-बुद्धि के पंक (कीचड़) से बचो।
41. यथार्थ में शिक्षा की उन्नति विनयशील को ही होती है; विनयहीन विद्या एवं विद्या के फल को प्राप्त नहीं हो पाते।
42. जीवन में श्रेष्ठ शिक्षावान्, विद्यावान् बनना चाहते हो तो विनयवान् बनो, अहंकार भाव का अभाव करो, शिक्षक के सामने अपनी विज्ञता मत दिखाओ, वहाँ तो अल्पज्ञ बनकर बैठो, तभी शिक्षक अपनी पूर्ण-विद्या आपको दे पाएगा।
43. यदि आप शिक्षक के समक्ष अपनी विशेषता दिखाओगे तो वह फिर शान्त हो जाएगा, क्योंकि दंभी को ज्ञान कहाँ? ज्ञान में दंभ कहाँ? यह बात पूर्ण सत्य स्वीकारो। इसमें किसी भी प्रकार की शंका न करो।
44. शिक्षा एवं शिक्षक के प्रति आस्था, स्वयं को ज्ञानी बनाने की तीव्र-भावना, प्रमाद शून्यता, उत्साह-शक्ति की पूर्णता यदि छात्र के अन्दर कूट-कूटकर भरी है और साथ-ही-साथ क्षयोपशम विशिष्ट है, बुद्धि निर्मल है, स्वभाव शान्त है, विकारी भावों से आत्म-रक्षा करता है तो उसे ज्ञानी बनने से कोई भी नहीं रोक सकता है।
45. मातृ-भाषा में छात्र शिक्षा-को शीघ्र ग्रहण करता है, इसलिए सर्वप्रथम-बोध मातृ-भाषा में ही देना चाहिए।
46. स्व-भाषा में विशेषता को प्राप्त कर ले फिर अन्य भाषाओं का अध्ययन होना चाहिए।
47. किसी भी भाषा से दूरी बनाने की बुद्धि या पक्षपात नहीं होना चाहिए।
48. जितनी अधिक भाषाओं के आप ज्ञाता होंगे उतने भाषियों को आप स्वयं अपनी बात अच्छे से बतला सकते हैं, साथ ही दूसरे की बात अच्छे से समझ सकते हैं।
49. विभिन्न भाषाओं के ज्ञान से विभिन्न भाषा-भाषियों से दूरी समाप्त होती है तथा स्व-पर के तत्त्वज्ञान का आयात-निर्यात भी कर सकते हैं।
50. प्रत्येक नागरिक अपने-अपने देश व प्रदेश की भाषा का अनुरागी रहता है और उसे स्वयं की भाषा से ही आनन्द आता है।

51. वर्तमान में आचार्य प्रवर महावीरकीर्ति जी महाराज ऐसे ज्ञानी हुए जो अट्ठारह भाषाओं के ज्ञाता थे।
52. भगवान् तीर्थंकर देव ऋषभदेव से महावीर स्वामी पर्यन्त सम्पूर्ण तीर्थंकरों की दिव्य-देशना अट्ठारह महाभाषा एवं सात सौ क्षुद्र भाषाओं (लघु भाषाओं) में हुई है, अतः ज्ञानीजन मातृ-भाषा, राष्ट्र-भाषा पर अनुराग तो रखते हैं, रखना ही चाहिए, परन्तु अन्य किसी भाषा का विरोध करके स्वहृदय की उदार-शून्यता का परिचय नहीं देना चाहिए।
53. भाषा भावों की अभिव्यक्ति का एक उपाय है, शब्द पुद्गल की एक अवस्था (पर्याय) है।
54. भाषा वाचक है, वक्ता भिन्न है, वाच्यार्थ भिन्न है। जिसके माध्यम से वाच्य एवं वाच्यार्थ का बोध होता है, ऐसी वाचक भाषा होती है।
55. प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म है कि वह राष्ट्र-भाषा का मान रखे, पर जितनी भाषाएँ सीख सको सीखो। एकमात्र भारत देश ही तो है जो बहुभाषी है।
56. भाषाओं में भिन्नता है; रहेगी, परन्तु भाषा की विभिन्नताओं में देशवासियों में परस्पर विभिन्नताएँ खड़ी न हों।
57. अनेकता में एकता, एकता में अनेकता देखने की दृष्टि बनाकर चलें। कोई भी भाषी हो हम सब जीव द्रव्य हैं, इसलिए सभी सुखी, सदाचारी, अहिंसा धर्म में विश्वास वाले बनकर रहें।
58. **अहिंसा ही परमब्रह्म है, वही परम धर्म है।**
59. भाषा के विकल्प में विभिन्न प्रान्तों-राष्ट्रों के प्रति राग-द्वेष खड़ा कर हिंसा की वृद्धि न करें।
60. **'जिओ और जीने दो'** का सूत्र घर-घर प्रेषित करें, तभी हमारी शिक्षा का सम्यक्-उपयोग होगा।
61. मात्र शब्दों को रट लेना ज्ञान नहीं है, तदनुकूल प्रवृत्ति भी करें और जन-सामान्य को भी ऐसी भावना उत्पन्न कराएँ।
62. शिक्षा सदाचार पूर्ण हो; बिना न्याय-नीति-सदाचार के शिक्षा सुशिक्षा संज्ञा को प्राप्त नहीं होती।
63. सुशिक्षा में नीति-न्याय-सदाचार गर्भित रहता है, जो कि देश-राष्ट्र, समाज के हित में है।

64. सामाजिक उन्नति का स्रोत शिक्षा पर अवलम्बित है।
65. जहाँ की शिक्षा उच्च होगी, वहाँ विचारशीलता भी उच्च होगी।
66. जहाँ विचार उच्च श्रेणी के होंगे, वहाँ सदाचार उच्च श्रेणी का स्वयमेव निर्मित होगा, इसलिए शिक्षा में उच्चता अनिवार्य है।
67. शिक्षा का अर्थ-क्रिया-कारित्व छात्र और शिक्षक के सहारे चलता है अग्निवत, अग्नि को ईंधन मिलता रहेगा वैसे-वैसे अग्नि की लौ बढ़ती जाती है।
68. यदि ईंधन विशाल स्थान को घेरे हैं तो धीरे-धीरे अग्नि भी विशाल स्थान को घेर लेगी। ईंधन का अभाव हो गया तो अग्नि भी बुझ जाएगी। इसी प्रकार छात्र तथा शिक्षक, गुरु एवं शिष्य के बल पर शिक्षा भी वृद्धि को प्राप्त होती है।
69. यदि गुरु-शिष्य परम्परा का लोप हो गया, छात्र शिक्षक समाप्त हो गए तो शिक्षा भी प्रायःकर समाप्त हो जाएगी, इसलिए विद्या के प्रसार के लिए जितनी आवश्यकता शिक्षक की होती है उतनी ही आवश्यकता छात्र की भी होती है।
70. गुरु विद्या को तभी पढ़ा पाएगा, बढ़ा पाएगा जब योग्य विनयशील, कुशाग्र, चारित्रवान, प्रमाद-शून्य, श्रमशील, सत्यार्थ-ग्राही शिष्य-समूह होगा।
71. कोई भी विद्यालय चले, परन्तु उसके दो प्राण हैं—छात्र एवं शिक्षक। इन दोनों में से एक का भी अभाव हुआ तो विद्यालय के अर्थ क्रिया-कारकपने का पूर्णतया अभाव हो जाएगा, इस बात को भी अच्छी तरह से समझना चाहिए।
72. परस्पर में गुरु-शिष्य का संयोग सम्बंध है, नहीं तो विद्या विकसित नहीं हो सकती है।
73. शासक, सम्राट्, सेठ, स्वामी, धर्माधिकारी, किसान-व्यापारी, भृत्याचारी कोई भी हो इन सबको गुरु-शिष्य सम्बंध को उज्ज्वल रखना होगा।
74. गुरु-शिष्य का यथायोग्य बहुमान होगा तभी संस्कृति, साहित्य, शिक्षा का विकास दृष्टिगोचर होगा।
75. **जहाँ शिक्षा का विकास वहाँ पर सम्पूर्ण शेष विकासों की शोभा है।**
76. जगति पर शिक्षा एवं स्वास्थ्य की अहं भूमिका है; शरीर एवं बुद्धि स्वस्थ है जिस देश की उस देश का विकास विराम नहीं ले सकता।
77. संस्कृति भी वहीं विकासशील रहती है जहाँ शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर विचार किया जाता है, इसलिए धर्म-संस्कृति का विकास हो, **शिक्षा का प्रचार हो।**

78. **पुरुष की शिक्षा के साथ-साथ नारी को भी शिक्षित होना अनिवार्य है, क्योंकि दोनों के संयोग से ही शिक्षित-परिवार बनता है।**
79. एक-एक परिवार देश के शिक्षित होंगे तो सम्पूर्ण-देश शिक्षित होगा।
80. व्यापारिक शिक्षा के साथ समझदारी की भी शिक्षा होनी चाहिए।
81. हिताहित विवेक की शिक्षा का होना अति-आवश्यक है, क्योंकि अधिकारों की मात्र शिक्षा देना अधूरापन है, इससे देश में संवेदनाओं का अभाव हो जाएगा।
82. अधिकारों की लड़ाई में हिंसात्मक जीवन-शैली बन जाएगी, दया-करुणा-परोपकार की भावना विलीन हो जाएगी, इसलिए शिक्षा में कर्तव्य को संग्रह करना अनिवार्य है।
83. यदि आपको स्वयं की इच्छाओं की पूर्ति का अधिकार दिखता है, तो साथ में दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखना आपका कर्तव्य है।
84. यदि सन्तान माता-पिता से हिस्से का अधिकार चाहती है, तो माता-पिता की सेवा करने का बोध भी होना चाहिए।
85. शिष्य गुरु-से अपेक्षा रखता है तो उसे भी अनुशासन का बोध होना चाहिए।
86. परस्पर में एक-दूसरे के प्रति उपकार-भाव तभी आएगा जब आपकी शिक्षा-प्रणाली में कर्तव्य-बोध का भी ध्यान रखा जाएगा, क्योंकि बिना कर्तव्य-बोध के मानव जीवन जीना बहुत ही कठिन है।
87. सम्पूर्ण मानव जीवन परस्पर के आश्रित है और परस्पर के उपकार से ही देश की उन्नति सम्भव है।
88. स्वाश्रय मात्र से जीवन जीने की बात करने वाले देश विकास नहीं कर पाएँगे, न ही उनके सिद्धान्त सम्पूर्ण-देश में लागू हो पाएँगे, क्योंकि एक ही व्यक्ति घर के पूरे कार्य करेगा तो वह बौद्धिक कार्य नहीं कर पाएगा।
89. व्यक्ति की सोच, कार्य-शैली अहंता से नहीं होती, अपितु योग्यता से होती है।
90. स्व-योग्यता से कार्य होगा, देश-धर्म-समाज व्यवस्था सुचारु रूप से चलेगी।
91. नवीन विचार रखने वाले को सर्वप्रथम विवेक-पूर्वक स्व-विचारों में आलोचन-प्रेक्षा करना चाहिए।
92. जीवन में एक विषय पर कोई प्रसिद्धि प्राप्त कर ले तो उसे वहीं तक स्वीकारना, उसकी प्रसिद्धि से छले नहीं जाना। अन्य कार्य की योग्यता उसके अन्दर हो कोई नियम नहीं है।

93. एक पुरुष श्रेष्ठ-शासक हो सकता है; इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वह श्रेष्ठ अध्यापक भी हो। विषय समझना; प्रत्येक श्रद्धेय की बातों में आकर अवनति-मार्ग को नहीं चुनना।
94. जो कार्य आपसे बनता है उसे आप करें और जो कार्य अन्य से अच्छे से बनता है वह उससे ही कराएँ।
95. अपना समय अपने कार्य को विशेष करने में लगाएँ। यह बहुत ही गंभीरता से विचारने का विषय है।
96. स्वावलम्बी जिन विषयों पर हो सकते हैं वहाँ पर ही स्वावलम्बी बनें। सेना को चरखा कातने को नहीं दिया जा सकता है।
97. कथावाचक हो या स्वात्म-ध्यानी योगी सभी को स्वयोग्यता का ध्यान रखते हुए कार्य करना चाहिए।
98. अपनी-अपनी क्षमता को देखो, स्वक्षयोपशम की योग्यता से ही जीव कार्य करता है, इस सिद्धांत का ज्ञान होना अनिवार्य है।
99. श्रेष्ठ शिक्षा के लिए धर्म-ग्रंन्थों का भी गंभीर अध्ययन होना चाहिए, जिससे समाज में साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध न हो।
100. साम्य-भाव, सद्भावना का पाठ पढ़ना ही हितकारी है।
101. भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में सर्वप्रथम विश्व में नारी-शिक्षा प्रारंभ की।
102. अपनी दोनों बेटियों को स्वयं ही विद्याभ्यास कराया। ब्राह्मी को अक्षर-विद्या एवं सुंदरी को अंक-विद्या की शिक्षा दी।
103. सम्प्रति जो ब्राह्मी-लिपि है वह तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के नाम पर विश्व-विख्यात है।
104. एक पाटे से गेहूँ नहीं पिसता है, उसके लिए दो पाटे चाहिए। उसी प्रकार से नारी एवं नर दोनों शिक्षित होंगे तभी देशोन्नति कर सकेगा।
105. सरस्वती सदा सदाचारी पर ही प्रसन्न रहती है।
106. यदि विश्व में विद्या के स्थान को प्राप्त करने के भाव हैं, तो अपने चारित्र को सर्वप्रथम उज्ज्वल करो।
107. किसी भी देश की उन्नति-अवनति का मापदण्ड धनबल, जनबल, सैन्यबल,

अस्त्र-शस्त्र बल के साथ सबसे महत्त्वपूर्ण कोई है तो वह है प्रज्ञाबल, बुद्धि-बल, शिक्षा बल।

108. जो देश शिक्षित है उसका विकास करना सरल है।

109. किसी भी देश पर किसी भी राष्ट्र को विजय प्राप्त करने की इच्छा है तो सर्वप्रथम गुप्तचरों से वहाँ के राजा, आमात्य, राज-पुरोहित, राजसेठ तथा सर्वप्रजाजन का बुद्धि विकास कैसा है यह ज्ञान कर लेना चाहिए।

110. जहाँ पर बौद्धिक विकास प्रबल है वहाँ पर सन्धि, साम्य-दामनीति से कार्य करना चाहिए, भेद और दण्ड-नीति वहाँ कार्यकारी नहीं हो सकती।

111. बुद्धिमानों की शत्रुता नहीं मित्रता ही श्रेष्ठ है।

112. शिष्ट-शिक्षक को कारणवश अपना अल्प-अहित स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु राष्ट्र निर्माण में अपनी अहं-भूमिका निभाना चाहिए।

113. छात्रों को किसी भी दशा में विपरीत-शिक्षा नहीं देना चाहिए।

114. छात्र गुणवृद्धि, गुण ग्राहीपना कैसे प्राप्त करें; ऐसा शिक्षक का प्रतिक्षण प्रयास होना चाहिए, क्योंकि शिक्षा की अवनति ही राष्ट्र की अवनति है और शिक्षा की उन्नति ही राष्ट्रोन्नति है।

115. वही शिक्षा श्रेष्ठ है; जिसमें मछली मारने की नहीं, अपितु मछली आदि जीवों की प्राण-रक्षा की शिक्षा दी जाय।

116. पशु-पक्षियों के प्राण-हरण की नहीं, अपितु उन्हें दाना-पानी-भोजन देना सिखाया जावे।

117. बकरी, मुर्गी, मछली की खेती नहीं उनकी रक्षा करो, उन मूक-प्राणियों की हत्या कर धन कमाना पाप है।

118. प्राणियों की रक्षा का भाव हो, यही **सम्यक्-शिक्षा** है।

119. जो शिक्षक अपने जीवन का सर्वस्व विद्यादान में लगाने का लक्ष्य रखेगा वही उत्तम विद्यादान कर पाएगा।

120. शिक्षक को स्वयं ही स्वाध्यायशील, विद्याभ्यासी, विनम्र, अत्यंत-आकर्षक, वाणी में माधुर्यवान, मिश्री सा मधुर, जिसके अन्दर प्रतिक्षण विद्या-रसिकता स्रवित होती हो।

121. शिक्षक का यशस्वी-भाल, ललाट, चमकती आँखें छात्रों को स्वतः विद्या-ग्रहण के लिए प्रेरित करें।

122. जैसे गाय के थनों में भरा दुग्ध बछड़े को दूर से भी बुला लेता है, ऐसे ही शिक्षक का विद्या-प्रिय छात्रों पर अकृत्रिम-स्नेह स्व-सन्तानवत होना चाहिए।
123. शिक्षक के लिए छात्र भी संस्कारभूत सन्तान है।
124. विद्यामाता से एक शिक्षक विशाल-परिवार खड़ा कर लेता है, वह इतना बड़ा परिवार जन्म देकर नहीं कर सकता।
125. प्रज्ञा-प्रदाता के नाम से गुरु का नाम युगों-युगों तक चलता है।
126. सामान्य मुद्रा में रहस्यमय-विद्या का उद्घाटन अर्घवान् नहीं रहता।
127. प्रतिक्षण विषयानुकूल-मुद्रा होना अनिवार्य है।
128. कच्ची केरी गूढ़-पाल में पककर ही तो आम बनती है, खुले आकाश में नहीं। विद्या-मंत्र मन्त्रणा-गूढ़ता में ही सिद्ध होती है, खुलेपन में नहीं।
129. उच्च-कोटि के साधक के समान ही शिक्षक की साधना होनी चाहिए।
130. परमेष्ठी की आराधना; शिष्य को गुरुता प्रदान करने के लिए शिक्षक को अवश्य ही करना चाहिए।
131. मंगल-ध्वनि, मंगल-पाठ जीवन के मंगल के लिए होता है।
132. विद्या की सिद्धि भी विघ्न रहित मंगलमय हो।
133. पाप के गालन के लिए मंगलाचरण होना चाहिए।
134. नास्तिकता का परिहार, आस्तिकता की पहचान, शिष्टाचार का पालन हो इस भावना से सर्वप्रथम विद्याभ्यास करने एवं कराने के पूर्व मंगलाचरण अनिवार्य रूप से करें।
135. गुरु की प्रवृत्ति के अनुसार प्रायःकर शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए गुरु भूल न करें, क्योंकि सम्पूर्ण साहित्य-संस्कृति, देश की रक्षा गुरु के हाथ में है।
136. हाथ, हाथ से नहीं चलते, हाथ मानसिकता से चलते हैं।
137. हाथों से अग्नि लगाई भी जा सकती है और बुझाई भी जा सकती है।
138. व्यक्ति का सोच जैसा रहेगा वैसा ही वह कार्य करता है।
139. प्रशस्त विचारवान व्यक्ति प्रशस्त ही कार्य करेगा और कराएगा।
140. शिक्षा प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपने आपको बाल्य समझना चाहिए।
141. बाल्य-काल ज्ञान प्राप्ति का सुन्दर-स्वर्णमय जीवन है।
142. बाल्य-काल स्वच्छ, निष्कषाय, भद्रतापूर्ण, चिन्तामुक्त जीवन है, न घर बसाने की चिन्ता, न घर चलाने की चिन्ता।

143. समस्त दायित्व माता-पिता के हैं, सम्पूर्ण विकल्प-चिन्ताएँ जनक-जननी को हैं। बाल्य-जीवन साधुतावत् है। चिन्ता शून्यता चिन्तन का कारण है।

144. बालकों एवं साधकों को विषय का बोध शीघ्र हो जाता है।

145. चिन्ता से ज्ञान का नाश, शारीरिक बल का क्षय, बुद्धि का ह्रास होता है तथा व्याधि उत्पन्न होती है।

146. **चिन्ता सर्व-नाश का कारण है।**

147. यदि ज्ञानी बनने की भावना है तो बालवत सर्व-चिन्ताओं का विसर्जन कर ज्ञानाभ्यास करो।

148. **ज्ञान के बिना नर जीवन पशु-तुल्य है।**

149. गीली-मिट्टी, नवीन-पौध और बाल्य-जीवन ये तीनों विकासशील हैं; योग्यता से भरे हैं, परन्तु प्रकट कराने वाला चाहिए।

150. जो प्रकट करा सके वह भी पूर्ण-योग्य होना चाहिए, जैसे मिट्टी को आकार देने के लिए या मूर्ति आदि बनाने के लिए कुम्भकार के अन्दर योग्यता होना चाहिए।

151. पौधे को कैसे कहाँ-कब मोड़ना है यह वागवान् (माली) में योग्यता होना चाहिए तथा बालकों को कैसे मोड़ना है, किस प्रकार का बनाना है, यह योग्यता माता-पिता-मित्र एवं शिक्षक में चाहिए।

152. जो बाल्य जीवन में विकास कर लेते हैं, वही जीवन उनके अंतिम विकास का कारण बनता है।

153. जीवन निर्माण का सही पुरुषार्थ तो यथार्थ में बाल्यावस्था में ही होता है, अन्य अवस्थाएँ तो उस पुरुषार्थ के सुख-भोग की होती हैं।

154. सम्पूर्ण-विश्व को जन्म घुट्टी के रूप में परोपकार की भावना पिलाने की शिक्षा देने की आवश्यकता है, यही शिक्षा कोरोना जैसी विश्व-व्यापी महामारी की विपत्ति के काल में काम आने वाली है।

155. शिक्षा-प्रणाली में परोपकार की भावना का प्रचार एवं विकास होना चाहिए।

156. पाठ्यक्रम में परोपकार का स्वतंत्र पाठ होना चाहिए, वह भी धर्म का एक अंग है।

157. **करुणा, वात्सल्य, दया धर्म का अंग है और उसका पालन करना मानव का कर्तव्य है।**

158. विश्व की सम्पूर्ण-शिक्षा के फल का भोक्ता पुण्यात्मा जीव ही होता है।

159. शिक्षा प्राप्त भी कर ली, परन्तु पुण्य-क्षीण है तो पुण्यात्मा धनपति के घर भृत्यकर्म करना होगा, अनुचर संज्ञा को ही प्राप्त कर पाएगा।

160. पुण्यात्मा जीव की शिक्षा ऐसे उन्नति दिलाती है जैसे अंक पर शून्य, अंक की शून्य कीमत बढ़ाता है।

161. पुण्य-हीन की शिक्षा ऐसी है जैसे शून्य-पर-शून्य। क्या प्राप्त होगा? शून्य बराबर शून्य, इसलिए विवेक का प्रयोग करो।

162. शिक्षा कर्म के साथ विद्यार्थी जीवन में ही पुण्य-कर्म भी करते रहना चाहिए तथा अभक्ष्य-भक्षण, अण्डा-मांस-मदिरा सेवन, चोरी, परस्त्री गमन, शिकार खेलना, वेश्या-सेवन, जुआ आदि व्यसनों से पूर्ण रूप से दूर रहना चाहिए।

163. सातों ही व्यसन महापाप हैं, पुण्यनाश के प्रबल कारण हैं, कुलीनता के घातक, संसार में दुःख एवं अपयश को दिलाने वाले हैं।

164. कुत्सित-शिक्षा एवं कुत्सित-शिक्षक दोनों धर्म-देश एवं समाज के घातक अंग हैं।

165. **आज तक जो भी आतंक, लोक में उत्पन्न हुआ है वह कुत्सित-शिक्षा एवं कुत्सित-शिक्षकों के द्वारा हुआ है।**

166. बाल तथा युवाओं की बुद्धि को भ्रमित कर उन्हें स्वर्ग एवं स्वर्ग की अप्सराओं का राग उत्पन्न कराकर, परमात्मा के नाम पर, परमात्मा तुम्हें सब प्रकार के सुख देगा, इसलिए जगत् को लूटो-मारो, अपने मत की वृद्धि करो, जीवों की बलि दो, सुरा-पान करो, सुन्दरियों के साथ सुख भोगो, इससे परगति में सब मिलेगा। ऐसा भ्रम फैलाकर, परस्पर के प्रेम-वात्सल्य का नाश कराकर, एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या की आग लगाकर स्वार्थ-सिद्धि में लगे लोग भोले जीवों को ठग रहे हैं।

167. हिंसादि अनाचार से स्वर्ग व स्वर्ग के सुख नहीं मिलते, अपितु नरक के महादुःख प्राप्त होते हैं। वहाँ अंग-अंग काट-काट कर मुख में भरे जाते हैं।

168. जो पर की स्त्री एवं बाल-कन्याओं के शील भंग करते हैं, उन नराधमों को नरकों में लोह की गर्मागर्म रक्त पुत्तलिकाओं से चिपकाया जाता है, ऐसे घोर-घोर दुःखों को जीव नरकों में प्राप्त करते हैं।

169. वहाँ न खोटी-शिक्षा और न ही खोटे वंचक छली शिक्षक बचाने जायेंगे, इसलिए मेरे बाल एवं युवा हृदयो! सत्य को समझो, अपनी वर्तमान एवं भविष्य की सुख-सम्पदा का नाश मत करो।

170. एकमात्र अहिंसा परमब्रह्म ही लोक में शरणभूत है अन्य कोई शरण नहीं। सम्पूर्ण खोटी शिक्षाएँ एवं शिक्षक आत्मा (जीव) के शत्रु हैं, इन शत्रुओं से स्व रक्षा करो।

171. सत्य का बोध प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को होता है। ऐसा कोई संज्ञी जाग्रत-प्राणी नहीं जिसे अपने किए का बोध न हो।

172. एक बार स्वयं के हृदय से शान्त-भाव से निर्णय लें तब आपका स्वयं का हृदय बोल देगा कि आप जो भी सोच रहे हैं, पढ़ रहे हैं, कर रहे हैं, वह अच्छा है या बुरा?

173. जगति पर ऐसा कोई भी मानव नहीं जिसे बुरे और अच्छे का बोध न हो। चाण्डाल भी हिंसा को हिंसा ही समझता है। वह भी हिंसा में अहिंसा के दर्शन नहीं करता।

174. कुछ जीव कर्म के प्रेरित होते हैं, कुछ स्वयं की आदत के लाचार, कुछ कुसंगति के सताए जो कुपथगामी जनों के साथ प्राप्त कुशिक्षा से प्रभावित होकर अशुभ कार्यों को करने में तत्पर रहते हैं।

175. समझो, जब कुकृत्यों का फल पापोदय रूप में आएगा तब अन्य कोई भी खोटी शिक्षा देने वाले आपका साथ नहीं दे पाएँगे। इस बात का स्वयं ही विचार करो।

176. अन्याश्रित जीना क्या कोई समझदारी का जीवन है? अरे मित्र! स्वयं की कषाय के अनुरूप कार्य करना, पूर्ण नासमझी है, फिर दूसरे के कहे अनुसार चलना तो घोर नासमझी है ही।

177. जगति पर छली-जन सर्वप्रथम बाल एवं युवा-युवतियों की बुद्धि को ही तो छलते हैं, बुद्धि भ्रमित कर फिर उनसे और उनके साथ अशुभ करते-करवाते हैं।

178. **स्व-प्रज्ञा को जाग्रत करो, कपटी-लोगों का राग छोड़ो।**

179. कपटी जीव स्वयं तो अशुभ कर्मोदय से दुर्गति में जाएँगे ही और आपको अशुभ-कर्म कराकर साथ में दुर्गतियों में ले जाएँगे।

180. एक क्षण शान्त भावों से बैठकर इस बात का चिन्तन करो कि हम क्यों अपयश का जीवन जीकर नरक जाएँ? हम भी तो सुशिक्षा पाकर श्रेष्ठ-नागरिक बनकर महाजनों में वरिष्ठता एवं यश के साथ जिएँ, सुकृत्य करके सद्गति को प्राप्त करें।

181. मरण के उपरान्त भी लोगों के हृदय में नाम एवं यश जीवित रहे।

182. अहो मेरे मित्रो! कुपथ-गमन से आत्म-रक्षा करो, सद्-नागरिक बनकर देश-धर्म-समाज का उद्धार करो।

183. तीर्थंकर, चक्री, कामदेव, बलभद्र, नारायणादि महापुरुषों ने इस भूतल पर जन्म लेकर जगत्-कल्याण की पवित्र-शिक्षा प्रदान की, सबके हित, सर्व-विकास की बात की।

184. **'जिओ और जीने दो',** किसी भी जीव का अहित न हो, क्योंकि सबके हित एवं विकास में ही देश-धर्म की उन्नति निहित है।

185. सभ्य, विकासशील देश की संस्कृति सभ्य एवं विकास बनाने के लिए वहाँ की राजनीति एवं शिक्षा भी सभ्य तथा विकासशील होना अनिवार्य है।

186. **अशिक्षा तथा असभ्यता किसी भी देश-धर्म की उन्नति का कारण नहीं बन सकती है, इस बात का इतिहास साक्षी है।**

187. जहाँ-जहाँ, जब-जब असभ्यता अशिक्षा ने अपना राज्य स्थापित किया वहाँ-वहाँ तब-तब विनाश हुआ।

188. प्रजा पर प्रेम-से जो साम्राज्य की सीमा वृद्धिंगत करता है; उसी की वृद्धि दीर्घ-कालीन होती है।

189. असभ्यों का काल अल्प होता है, अशिक्षितों का समय प्रारम्भ होते ही नष्ट हो जाता है अथवा प्रारम्भ ही नहीं हो पाता है।

190. सभ्यता शिक्षा के साथ रहती है; सुगन्धित पुष्पवत्।

191. पुष्प सर्व-नगर को सुवासित कर देता है, इसलिए प्रत्येक राजनेताओं, अभिनेताओं के साथ समाजजनों सहित परम्पराचार्यों, धर्माचार्यों का कर्तव्य है कि वे सभ्यता-सुशिक्षा पर बल देकर भारत की विश्व-गुरुता की रक्षा करें।

192. पूज्यजन भी यदि पक्षपात के राग से धर्मनीति एवं न्याय के विरुद्ध शिक्षा दें तो उस शिक्षा में मौन रखना चाहिए, क्योंकि पूज्यों का अविनय भी न हो पाए और साथ ही न्याय एवं धर्म के विरुद्ध कार्य भी न हो।

193. न्याय एवं धर्म की रक्षा न राग-बुद्धि से हो सकती है, न द्वेष-बुद्धि से, राग में भी सत्य छूट जाता है और द्वेष में भी सत्य दूर रह जाता है।

194. राग-द्वेष के मध्य जिसके परिणाम संलग्न हैं, उन व्यक्तियों को करनी-अकरनी, हेय-उपादेय का विवेक नहीं रहता।

195. राग में रागियों का हित चाहता है; कुछ भी हो जाए। द्वेष में द्वेषियों का अहित चाहता है, लोक में कुछ भी हो जाए, अन्य उसे कोई प्रयोजन नहीं है।

193. रागी-द्वेषी गुरुजन भी क्यों न हों; उनकी बात स्वीकार न कर, स्व-पर हितकारी शिक्षा को स्वीकार कर जीना।

197. सत्यपूर्ण जीवन जीने वाले के मरण-उपरान्त भी उसका नाम लोक के हृदयों में जीवन्त रहता है।

197. गुण-ग्राही-जन स्व-शिक्षा के साथ अन्य की विद्या को भी धैर्य से श्रवण करते हैं, वे किसी के भी ज्ञान को तुच्छ कहकर अपने दंभ के दर्शन किसी को नहीं कराते।

198. विनय-पूर्वक अन्य के अन्दर जो भी सद्गुण हैं उन्हें सहर्ष स्वीकार करते हैं, गुणी-शैक्ष्य की यही तो पहचान है।

199. गंदा वस्त्र भी आवश्यकता पर आवश्यक हो जाता है, जो मलिन-वस्त्र संज्ञा प्राप्त कर उपेक्षित था, वही वस्त्र भवन एवं वाहन की सफाई करने के लिए आवश्यक बन गया।

200. जो पुरुष तुम्हारे जीवित में काम नहीं आए थे, कभी उन्हीं के कन्धों पर तुम्हारी शवयात्रा जाएगी, इसलिए हर-वस्तु, हर-व्यक्ति की कीमत करो।

201. देश-गाँव-नगर-महानगर कहीं भी ज्ञानी महापुरुष-साधु-महात्मा व परमात्मा जन्म ले सकते हैं, इसलिए जाति-कुल या नगर में ज्ञानी-महात्मा-परमात्मा मत देखो, अपितु श्रेष्ठ-कार्यशील पुण्यात्मा-महापुरुष में तथा पुरुषार्थी जीवों में महापुरुष को देखो।

202. जो गुणवान् है; वही गुणी है। गुणहीन को गुणवान् या गुणी संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है। अपने चाहने वाले लोगों से गुणी क्या प्रभु संज्ञा भी प्राप्त कर ले, तो क्या वह गुणी-प्रभु हो सकता है? कागज के साँप में मणि नहीं होती।

203. शास्त्रों की शिक्षा प्रमाण-पत्र प्राप्त करना है, परन्तु जीवन-विकास पुस्तकीय पढ़ाई के साथ गहरे अनुभव से होगा। यदि अनुभव की गहराई जीवन में नहीं आई तो सम्पूर्ण पुस्तकीय-पंडिताई उपहास की उपलब्धि मात्र ही करा पाएगी, अन्य कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो पाएगी।

204. इसलिए पुस्तकों की शिक्षा के साथ तद्-तद् विषय के अनुभव की भी शिक्षा प्राप्त करना चाहिए। यदि बिना विशेष पुरुषार्थ के अमूल्य निधि प्राप्त हो रही है तो उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। किसी व्यक्ति के अनुभव मिलते हैं तो ग्रहण करो।

205. मित्र! विपत्तियों के आने पर भी अपने धैर्य को सँभालते हुए वाणी-संयम को जीवित रखना, क्योंकि जहाँ वाणी-संयम नष्ट हुआ वहाँ अपना सर्वस्व स्वाहा हो जाता है।

206. वचनों को जिसने सँभाल लिया, समझो विजय भी उसने अपनी ओर बुला ली।

207. जहाँ धैर्य का बाँध टूटा, वाणी आपकी असंयमित हुई, समझो आपने विजय अपने ही शत्रु को प्रदान कर दी।

208. जीवन में सबसे बड़ी सीख समझना—आवेग में विवेकहीन होकर दुर्वचनों का प्रयोग किसी भी स्थिति में नहीं करना।

209. जब-जब विपरीतता आवे तब-तब महापुरुषों का ध्यान कर लेना, उन महायोगियों के जीवन-वृत्त के दर्शन करने लग जाना जिनके ऊपर घोर-उपसर्ग हुए, फिर भी अपनी साम्यता का त्याग नहीं किया, मौन-पूर्वक क्षमा धारण कर उपसर्ग का फल आत्मोत्कर्ष प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया और जगत् की आस्था के केन्द्र बन गए।

210. जहाँ पर प्राण-घातक व्यक्ति एवं पशु-पक्षी हों, घोर अकाल, महामारी का प्रभाव हो ऐसे स्थान को छोड़ देना चाहिए। प्राण रहेंगे तो धन-धरती, पुनः प्राप्त हो जाएगी।

211. मानव ही नहीं रहेंगे तो धर्म-संस्कृति कैसे रहेगी? इसलिए धर्म-संस्कृति के लिए अपने प्राण सुरक्षित रखना चाहिए।

212. समय पाकर अपनी सम्पत्ति व भूमि को पुनः प्राप्त कर लेना, परन्तु जीवन रक्षा स्वयं की अवश्य ही करना।

213. समय सबको निर्बल एवं सबल बना देता है। कुछ बातें समय पर छोड़ देना चाहिए, बड़े-बड़े गर्त घाव-व्रण समय पर भर जाते हैं।

214. पुनः समझो, **अधीर होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अधीरता सबसे बड़ी अज्ञानता है और धैर्य ज्ञानी जीव की प्रथम पहचान है।**

215. ज्ञानी, धैर्यवान, शील-सम्पन्न, विवेकी-धर्मात्मा जीवों को देव-दानव भी शीश झुकाते हैं, फिर नरों की क्या गणना, इसलिए अपने जीवन में यह शिक्षा स्वीकार करो।

216. ज्ञान, धन-धरती के राग में आत्महत्या मत करो। शंका या संकट का समाधान मृत्यु नहीं है। जीवन है तो सब है, जीवन नहीं तो कुछ नहीं।

217. हसते-हसते पुष्प-मालाओं को स्वीकार करने वाले वसुन्धरा पर बहुत हैं, पर शूलों और संकटों में जीवन प्रसन्नतापूर्वक जीने वाले वीर धरा पर विरले श्रीराम व तीर्थंकर महावीर हैं।

218. प्रत्येक अवस्था को जानना सीखो और हर अवस्था में जीना सीखो।

219. जो ज्ञायक भाव से जीता है उसे कष्ट भी आनन्द देने लगते हैं, यह कथा नहीं जीवन का सत्यार्थ-सूत्र है, जीते-जी अनुभव करो। जियो और जीने दो।

30

सत्यार्थ-सूत्र

व्यसन

1. **व्यसन** वह आदत है जो जीवन में एक बार लग जाए, फिर बार-बार उसे करने के भाव होते हैं।
2. बुरे-व्यसनों में व्यक्ति अपना सर्वस्व नाश कर बैठता है, **व्यसन विष से भी अधिक घातक हैं।**
3. विष एक बार मारता है, परन्तु व्यसन तो क्षण-क्षण में मारता है।
4. धर्म-यश-कुल-सम्पत्ति का एक साथ क्षय कराने वाली महामारी **व्यसन** है।
5. व्यसनों का सेवन तो नाशक है ही, अपितु दर्शन ही पीड़ा दे देगा।
6. व्यसनी को कोरोना वैसी महामारी शीघ्र प्रभावित करती है और फिर वह तड़प-तड़प कर प्राण छोड़ता है, इसलिए **व्यसन एवं व्यसनी दोनों से ही दूरी बनाकर चलो, सुरक्षित रहोगे।**
7. सुखमय जीवन को दुःख, चिन्ताओं के गर्त में डालने वाली कुटेव (खोटी आदत) का नाम व्यसन है, मंगलमय जीवन को अमंगलमय बनाने की विधि का नाम **व्यसन** है।
8. **निर्व्यसनता का जो आनन्द है वह अवाच्य है।**
9. व्यसनी व्यक्ति की जो अंतरंग वेदना है वह भी अवाच्य है। वह स्वयं ही स्वयं अशुभ सोचता है।
10. **व्यसन** महा-पाप सर्व-संबन्धों व परिवार को नष्ट कर देता है, व्यसनी के जीवन की पवित्रता का तो पता ही नहीं चलता कि कहाँ विलीन हो गई?
11. व्यसनी सोचता है कि वह अनुभूति एवं शक्ति कब मिलेगी जो निर्व्यसन-काल में अलौकिक, विशिष्ट-आनन्द की धारा स्वात्म-प्रदेशों में बहती थी। वह स्रोत अब बंद हो गया।
12. मित्रो! ज्ञानीजनों, गुरुजनों के मध्य जाने की शक्ति क्षीण हो गई, भय संज्ञा

प्रतिपल साथ रहने लगी, मेरी कुबुद्धि पर लोग हसते हैं। जीवन-मरण दुःखमय हो गया। हाय! हाय! हाय! व्यसनों में फंस गया।

13. कल्याण-मार्ग से जो पतित करे, सद्मार्ग से दूर करे, कुमार्ग में रख दे, सद्गुरुओं एवं सद्गुणों से जो मिलन न करने दे, वह महाभयंकर कष्ट-प्रदाता **व्यसन** है।
14. जीवन को दुष्टता में बदलने का जो कार्य करता है, वह **व्यसन** है।
15. व्यसन धन से लेकर तन तक क्षीण करा देता है व्यसन नगर, देश और विश्व में अपयश दिला देता है, दाने-दाने की भीख मँगवा देता है **व्यसन**।
16. साधु को दुर्जन बना देता है व्यसन, मधुर-सम्बंधों में विष घोल देता है **व्यसन**।
17. आत्मा के अन्दर जो भी काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि आन्तरिक शत्रु हैं, उन सबको जाग्रत करा देता है—व्यसन, इसलिए सर्व-पापों में महापाप है—**व्यसन**।
18. तत्त्वज्ञानी, तत्त्वप्रेमी-जनों की यदि व्यसनों में दृष्टि भी जा रही हो तो स्व-पर हितार्थ व्यसनों को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए।
19. लोक में कितने भी जप-तप-उपवास, तीर्थवंदना, दान-पूजनादि सत्कार्य कर लो, परन्तु एक व्यसन में भी लग गए तो सम्पूर्ण धर्म-कर्म उभय-लोक में अहित से नहीं बचा पाएगा।
20. व्यसनी को श्रेष्ठीजन अपने पास भी नहीं बैठने देते हैं।
21. जो व्यसनी होता है, उससे सज्जन-लोग अपनी संतान को सिंह-सर्पादि जैसे दूर रखते हैं।
22. घर-घर में चर्चा-वार्ता चलती है कि—अमुक व्यक्ति से बच्चों को दूर रखना, उसे अपने घर नहीं बुलाना, उसके घर अपने बालकों को नहीं भेजना, अन्यथा कुसंस्कारों को प्राप्त हो जाएगा।
23. यदि एक व्यसनी समाज में हो गया तो वह महामारी कोरोना जैसे हजारों को व्यसनी बना देगा, इसलिए व्यसन-सेवी से कोरोना-रोगी जैसी दूरी बनाकर रखनी चाहिए।
24. **1. जुआ खेलना, 2. मांस खाना, 3. मदिरा पीना, 4. वेश्या सेवन, 5. शिकार खेलना, 6. चोरी करना, 7. पर-स्त्री सेवन करना—ये सात व्यसन हैं,** ये जगत् प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है; जिसके

सेवन से व्यक्ति की महानता का बोध हो सकता हो, सातों-के-सातों ही निष्कृष्टता से युक्त हैं।

25. आचार्य प्रवर सोमदेवसूरि ने प्रसिद्ध नीति-शास्त्र 'नीति-वाक्यामृतम्' में अठारह प्रकार के व्यसनों की व्याख्या की है। **1. स्त्री-आसक्ति, 2. मद्यपान, 3. शिकार खेलना, 4. द्यूत क्रीड़ा, 5. पैशून्य (चुगली), 6. दिन में शयन, 7. पर-निन्दा, 8. गीतश्रवण में आसक्ति, 9. नृत्य-दर्शन में आसक्ति, 10. वादित्र-श्रवण में आसक्ति, 11. व्यर्थ-गमन, 12. ईर्ष्या, 13. साहस अथवा पर-स्त्री सेवन व कन्या दूषण, 14. अर्थ-दूषण, 15. अकारण वध, 16. द्रव्य-हरण, 17. कर्कश-वचन, 18. दण्ड-पारुष्य।**

26. पर से पाप छुपा सकते हैं, पर स्वयं एवं स्वयंभू से क्या छुपा पाएँगे? दो से कोई बात गुप्त रहती ही नहीं—स्वयं एवं स्वयंभू।

27. स्व के जीवन का बोध सभी को रहता है कि मैं क्या हूँ? परमात्मा को सबका ज्ञान है कि—लोक में कौन क्या है? इसलिए व्यर्थ के काम करके अपने आपको अपने से ही पापी मत कहलाओ।

28. सर्वप्रथम जुआ आदि सात व्यसनों को क्रमशः समझें, फिर समझेंगे अठारह को। इन खोटी-आदतों का सम्बंध किसी धर्म-पंथ-सम्प्रदाय से नहीं है, ये सातों ही अथवा अठारह ही व्यक्ति की स्वयं की परिणति हैं, उन्हें कोई धर्म नहीं स्वीकारते और न ही पन्थ-सम्प्रदाय।

29. **यदि व्यसन सेवन को ही कोई धर्म स्वीकारे तो उससे बड़ा अधर्म एवं अधर्मी पृथ्वी पर अन्य कौन हो सकता है?** ऐसे अज्ञ को तो अपने मुख को सिल ही लेना चाहिए। बोलने का उसे अधिकार ही नहीं होना चाहिए।

30. इन व्यसनों, महापापों को धर्म कहने वालों पर राज्य-शासन, केन्द्र-शासन को राज्य व राष्ट्रहित में रोक लगाकर, व्यसन-मुक्त देश का आदेश ही नहीं, आवश्यक नियम ही लगा देना चाहिए। इसके देश का आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास होना प्रारंभ हो जाएगा।

31. हार-जीत के लक्ष्य को लेकर, शर्त लगाकर जो भी खेल खेले जाते हैं या कार्य किए जाते हैं वे सब जुआ हैं।

32. जुआ (द्यूत-क्रीड़ा) ऐसी कीड़ा है जो व्यक्ति का सर्वस्व क्षय कर देता है, करोड़पति भी रोड पर आ जाते हैं, राजा को रंक बनते देर नहीं लगती।

33. जुआ आशा की आग उत्पन्न करता है और अन्त में निराशा की राख मात्र अवशेष रहती है।
34. जुआ में अंध जुआरी, दाँव पर धन-धरती, वस्त्र-आभूषण क्या, अज्ञ-प्राणी पत्नी तक दाँव पर लगा बैठते हैं, फिर उनके पास रोने के अलावा शेष बचता ही क्या है?
35. युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, जो धर्मराज संज्ञा को प्राप्त थे, वे भी जुआ के कारण जगति पर अपयश को प्राप्त हुए, क्योंकि उन्होंने विवेक खोकर धन-धरती और नारी तक को दाँव पर लगा दिया था।
36. द्यूत-क्रीड़ा मात्र धनहानि का ही कारण नहीं है, अपितु स्वास्थ्य, बुद्धि-विवेक, सुख-शांति की भी हानि करता है।
37. देह एवं मुख-मण्डल की सम्पूर्ण-आभा विलीन हो जाती है। परिवार, कुटुम्ब, पड़ोसी, माँ, बहिन, मित्र, पुत्र तो क्या पत्नी भी विश्वास करना छोड़ देती है। ओहो! जुआरी से क्या प्रीति करना? अभागा मेरे वस्त्राभूषण, मंगलसूत्र तक दाँव पर लगा आएगा, इसलिए जुआ से पृथक् जीवन जीना ही श्रेष्ठ है।
38. सज्जनों को घोर-घोर विपत्ति की खान जुआ को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।
39. जुआरी का वर्तमान जीवन तो कष्टमय है ही, परन्तु आने वाला भविष्य का भव भी कष्टमय ही होगा।
40. **अशुभ-कर्मों की गति अशुभ ही तो होगी।**
41. तृष्णा-आशा एवं निराशा की आँधी में जीनेवाला विशुद्ध-भावों से नहीं जीता, वह संक्लेशता में जीवन जीता है और नहीं सुधरा तो अंतिम श्वास तक संक्लेश-भाव का सद्भाव ही रहेगा।
42. संक्लेश-परिणामों से भरा प्राणी नरक, पशु आदि खोटी गतियों को ही प्राप्त करेगा और छेदन, भेदन, मारन-ताड़नादि घोर-दुःखों को प्राप्त होगा। अन्य कोई भी रक्षा करने नहीं आएगा।
43. स्वात्मा पर दया करो और हार-जीत के खेल खेलना बंद करो।
44. सज्जन लोग हितकारी-शिक्षा को अवश्य ही स्वीकार करते हैं, वे '**सत्यार्थ-सूत्र**' का अपमान नहीं करते हैं, अपितु किए गए दोषों की निन्दा-गर्हा एवं आलोचना, प्रायश्चित्त कर आत्म-विशुद्धि को वर्धमान कर, दोष छोड़, निर्दोष होकर धर्म-संस्कृति का बहुमान करते हुए पाप-वृत्ति से रहित होकर, एक श्रेष्ठ-

नागरिक बनकर स्वयं का स्वच्छ-जीवन कर इह-लोक और पर-लोक अर्थात् उभय-लोक को सुखमय कर लेते हैं।

45. ऐसा मान-अहंकार नहीं करना कि अब तो मैं जुआरी-पापी हो ही गया हूँ अब कुछ नहीं हो सकता, सुधार करके नरक तो जाना ही पड़ेगा। सर्वथा ऐसा मत सोचो, अशुभ छोड़ो, शुभ-कर्म विशुद्ध-भावों से पाप-क्षय कर निर्जरा को प्राप्त करो।
46. जैसे सूर्य की तीव्र-तपन से कीचड़ सूखने लगती है, उसी प्रकार तप-त्याग की साधना से बन्ध को प्राप्त कर्म भी झर जाते हैं, इसलिए पापों का त्याग करो, भाव प्रशस्त करो और आगामी भव को उज्ज्वल करो।
47. पुण्य-पाप जीव के परिणामों पर आलम्बित है, अन्य किसी भिन्न कर्ता पर आलम्बित नहीं है, इसलिए सुदृढ़तापूर्वक अशुभ-कर्म छोड़ो-छोड़ो, शुभ-कर्म करो।
48. अज्ञ प्राणी परिग्रह-संज्ञा, लोभ-कषाय, ममत्व-परिणाम, राग-बुद्धि के वश जुआ जैसे दुर्व्यसन में संलग्न हो जाता है।
49. **सातों ही व्यसनों का राजा जुआ है।** यदि जुआरी धन जीत भी गया तो मदिरा पीता है, मद्य से क्षुदित मांस खाता है। शराब और मांस की तामसिकता से उन्मत्त हुआ वेश्यावृत्ति करता है। वेश्याओं को खुश करने के लिए धन चाहिए, इसलिए चोरी करता है, अशुभ क्रिया-कर्म करते-करते उग्र हो निरीह मूक-प्राणियों का शिकार करता है। धन-हीन हो वेश्याओं से अपमानित होने पर अन्य स्त्रियों की ओर दौड़ता है। अहो! एक जुआ के संसर्ग ने सातों के सात व्यसनों से जोड़ दिया।
50. चाहे होली हो या दीवाली अथवा अन्य कोई भी विवाह आदि उत्सव, परन्तु शौक-शौक में भी जुआ नहीं खेलना।
51. **हे मानव! मांस न पर्वतों पर फलित होता है, न वृक्षों पर, न आकाश में, न पृथ्वी पर अंकुरित होता है।**
52. मांस फल-फूल नहीं, न धान्य, न रस, न खनिज-रसायन, वह तो प्राणियों का कलेवर है।
53. पशु आदि की हत्या के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती।
54. मांस भक्षी कभी भी दयावान मानव संज्ञा को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि जिनका हृदय क्रूरता से ओत-प्रोत है वे ही मांस खाते हैं।

55. वह देव नहीं, परमात्मा नहीं, ईश्वर-भगवान् नहीं, धर्मोपदेशक नहीं, गुरु नहीं, धर्मात्मा-महात्मा नहीं जो जीव-वध से उत्पन्न मांस खाने का उपदेश या आदेश करे और निषेध न करे।
56. वह धर्म-ग्रंथ ही नहीं जिनमें जीव के कलेवर खाने को आहार-संज्ञा दी हो।
57. जहाँ दया-करुणा-अहिंसा की बात की गई हो, परस्पर जीवों की रक्षा की बात की जाती है, एकमात्र वही सत्यार्थ-बोध देने वाले उपदेशक हैं, वही तत्त्वप्ररूपक सत्यार्थ-बोधक धर्मग्रंथ है।
58. यदि कोई धर्म के नाम पर मांस-सेवन कर कहे कि यह तो मेरा धर्म है, अभक्ष्य-हिंसक द्रव्य सेवन का आदेश करे, वह सुधर्म नहीं।
59. धर्म तो सदा शुद्धाहार-शाकाहार की ही प्रेरणा देता है।
60. निरीह, मूक-प्राणियों का वध करके अपना पेट भरना मानव-धर्म नहीं।
61. मानवता-शून्य, निशाचरी, राक्षसी-वृत्ति पशुवृत्ति है।
62. मानव तो परमात्मा के आकार का है; जितने महापुरुष परमात्मा हुए हैं वे सब मनुष्यगति में, मनुष्य देह से हुए हैं।
63. अहो नरो! अपनी देह के आकार को तो देखो, जिस पवित्र-देह का आश्रय पाकर परमात्मा महात्माओं ने अहिंसा परमब्रह्म का उपदेश दिया तथा स्वयं भगवत्ता की सिद्धि की, उस देह को पाकर जो पृथ्वी माँ की गोद के लालों को मारकर अपना उदर भर रहे हैं उन पापियों से मांस भरा उदर कह रहा है कि इसका फल अब भविष्य में आपके शरीर से नरक का उदर भरेगा।
64. नरक-गति में तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर नारकी तुम्हारे ही मुख में डालेंगे।
65. श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान् महावीर स्वामी की भूमि जो दुग्ध-घृत से सुवासित थी उस पवित्र भूमि पर वर्तमान में लोग खुलेआम मूक प्राणियों का वध कर रहे हैं।
66. अहो! अहो! दुर्गति का भान नहीं, शासन का भय नहीं। वह शासक, शासक ही नहीं जो मांस खाए।
67. पृथ्वी रो-रोकर अश्रुपात कर रही है, उसी का परिणाम है कि कभी भूचाल के रूप में, कभी अकाल के रूप में, कभी अतिवृष्टि के आँसू डाल रही है। जब नहीं मानते ये दुष्ट नर-अधम; तो पृथ्वी-माँ प्रकृति को रुष्ट कर कुपित हो हत्यारों पर कहर ढाती है।

68. मानवता के नाम पर कलंकित मांस-भोजी, जिन्होंने मछली, बकरे, मुर्गा-मुर्गी, साँप, कुत्ते, सुअर, गाय-बैल, भैंस, ऊँट; इतना ही नहीं ओहो! नर-भ्रूण भी खा डाले, चूहे, चींटा तक को नहीं छोड़ा। ऐसे महापापी नरों से महामारी कोरोना के द्वारा प्रकृति मूक-प्राणियों के वध का बदला ले रही है।

69. अज्ञ-प्राणी जीवों को खाकर कहते हैं कि—हम पृथ्वी का सन्तुलन बना रहे हैं, यह घोर मूढ़ता है। अहो मानव! अपने भावों का सन्तुलन बनाओ, लोक का सन्तुलन स्वयं में सन्तुलित ही है।

70. चाहे करो कोटि-कोटि यज्ञ या उपवास, पर यदि एक जीव की रक्षा भी कर ली तो वह श्रेष्ठ है। **जीव-रक्षा ही श्रेष्ठ धर्म है।**

71. जीव का वध करके, कराके मांस खाना पाप ही है। चाहे वध स्वयं करो, चाहे अन्य से कराओ या करने वाले की अनुमोदना करो, पर तुम्हारा जप-तप, उपवास, यज्ञ, पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र की आराधना व्यर्थ है, संसार-भ्रमण का ही कारण है।

72. एक बार स्वबुद्धि से विचार करो कि पर को पीड़ा देकर कौन सुखी हो सकता है?

73. अवश्य चिंतन करें, आज तुम जंतुओं को मार-मार कर खाओगे तो कर्म-दैव-भाग्य-विधि भी आपको नहीं बचाएगी, क्योंकि प्रकृति का न्याय सत्य होता है। इस भ्रम को मिटा लेना अभी कि, हम कुछ भी अनर्थ करते रहें और हमारा प्रभु-गुरु धर्मस्थान हमारे पापों को समाप्त कर देगा, यह सब भ्रम है।

74. सत्यार्थ-बोध को प्राप्त करो। सत्य तो यही है कि जैसा कर्म वर्तमान में करोगे उसका फल स्वयं ही भविष्य में तुम्हें भोगना पड़ेगा, अन्य कोई भी किसी के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता नहीं है, नहीं है। आस्था के सत्य को भी समझो।

75. **पूज्य के निमित्त भी जीवों का वध नहीं करना चाहिए, वह पूज्य पूज्य कैसा जो जीवों के रक्त का प्यासा हो?** वह देव नहीं जो जीवों का घात कराए।

76. देव के यथार्थ स्वरूप को समझना चाहिए। देवाधिदेव, देव, कुदेव या अदेव, ये चारों ही देव मांस नहीं खाते, सत्य को समझो।

77. प्रथम देव हैं—देवाधिदेव; ये सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी, कैवल्यज्ञान सम्पन्न अरहन्त देव हैं, इनका मांस खाने का तो विकल्प ही छोड़ो, अपितु सर्वज्ञदेव

का तो कवलाहार (ग्रास) ही नहीं होता, क्योंकि इनका क्षुधा रोग समाप्त हो चुका है। जिनके भोजन का ही अभाव है, तो फिर मांस-सेवन का तो प्रसंग ही नहीं।

78. दूसरे हैं, देव-गति के देव। वे अमृत-भोजी होते हैं। जब उन्हें भूख लगती है, तो वे भोजन का चिंतन करते हैं, तब उनके ही कंठ से अमृत झरता है, जिससे उनकी क्षुधा का नाश होता है।

79. अमृत-आहारी देव सड़े-गले, मल-मूत्र-रक्त, पीव युक्त मनुष्य या पशु-पक्षियों के दुर्गन्धित मांस का सेवन क्यों करेंगे? स्वयं विवेक पूर्वक विचार करो।

80. जो कुत्सित, विकराल रूपधारी भूत-व्यन्तरादि कुदेव हैं, उनका भी मूल रूप सुन्दर ही होता है।

81. तीसरे, भूत-व्यन्तरादि देव भी मांसाहारी नहीं हैं, वे भी अमृत-भोजी हैं। वे भी कोतुहल-वश लोक को भयभीत करने हेतु विक्रिया मात्र दिखाते हैं, पर किसी के मांस-रक्त का सेवन कोई भी देव नहीं करता है और न ही कर सकता है।

82. चौथा देव अदेव है, वह लोक में लोग वनस्पति आदि को मानते हैं, कई लोग नीमादि वृक्षों को देव मान करके उपासना करते हैं, परन्तु वह पर्याय में वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, वह देव नहीं अदेव है।

83. किसी भी दृष्टि से देखें; तब भी देव के अन्दर मांस भक्षण, सुरा पान की अभिलाषा घटित नहीं होती।

84. देव के नाम पर अज्ञ-प्राणी भोले-जीवों को भ्रमित कर रहे हैं। देव बलि चाहता है; ऐसा नहीं, अपितु स्व के उदर-पुष्टि हेतु देव के नाम पर जीव वध कर मांस खा रहे हैं।

85. देव कभी भी मांस नहीं खाते, इसलिए देव के नाम पर भी जीव का वध न करें और कुदेवों के कोतुहल से प्रभावित होकर भी जीव-हिंसा के भाव न करें।

86. पुण्य-पाप की महिमा है, न कोई किसी को लक्ष्मी देता है और न कोई उपकार करता है। उपकार-अपकार जीव के पुण्योदय-पापोदय से होता है।

87. देव के नाम पर जीव वध कर, फिर उसे प्रसाद मानकर खाओगे, तो इससे निश्चित ही पाप कर्म का आस्रव-बंध होगा।

88. क्या किसी की हिंसा से, वध से पुण्य हो सकता है? स्वयं ही स्व-प्रज्ञा से विचार करो।

89. क्या किसी को मार देना धर्म-पुण्य का कार्य हो सकता है? फिर दया-करुणा

करना, अभय-दान देना, अहिंसा-परम-धर्म ये सब बातें व्यर्थ हो जायेंगी तथा जीवरक्षा करने वाला नरक चला जाएगा तथा हिंसक मांस-सेवी स्वर्ग चला जाएगा। ऐसा कभी होता नहीं।

90. मांस-भक्षी स्वर्ग-मोक्ष नहीं जाता, जब-तक त्याग करके प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तब तक वह धर्म में उपस्थित नहीं होता है। समझो, मत फँसो मायावियों के मायाजाल में।

91. एक प्रश्न है! स्वयं नहीं मारोगे प्राणियों को, पर दूसरे ने मारा हो तो क्या हमें हिंसा का दोष लगेगा? अरे मित्र? समझो, कृत-कारित-अनुमोदना से पाप का बंध होता है, यदि आप न खाएँ तो वह क्यों मारे? चाहे आप मारें या न मारें, यदि आप मांस खाते हैं तो हिंसा के पाप का बंध नियम से होगा।

92. यदि जीव स्वयं भी अपनी आयु पूर्ण करके मरा है, तब भी मांस नहीं खा सकते, वह भी हिंसा पापमय क्रिया ही है। मद या दर्प का कारण जो मांस है उसमें मृतक-जाति के ही सम्मूर्च्छन जीव प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहे हैं और मर रहे हैं, वह भी जीवों का पिण्ड है, खाने योग्य नहीं है।

93. जिन्होंने यह उपदेश दिया है कि स्व मृतक पशु-पक्षी के मांस का सेवन कर सकते हैं, वे प्रेक्षावान पुरुष नहीं थे। ओहो! ऐसे उपदेशकों के उपदेश से अनर्थ हो गया, उनके भक्तों ने पशुओं को पर्वत से गिरा दिया, गिर कर मर गए या खूँटे से बाँधकर छोड़ दिया, मर गया तो खा लिया। क्रूरता की सीमा ही तोड़ दी। जब दया का उपदेश देने का प्रचार है, फिर यह क्रूरता कैसी?

94. अरे पापियो! मांस कोई वृक्ष का फल नहीं है जिसे तुम पकाकर भक्ष्य-प्रासुक बनाना चाहते हो। मांस चाहे कच्चा हो, चाहे पका हो दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा जन्य कर्म है।

95. दोनों ही मांसों में (कच्चा या पक्का) प्रतिक्षण नवीन-नवीन अन्य जीवों की उत्पत्ति हो रही है। मूल बात तो यही है कि कच्चा या पक्का मांस प्राप्त तो तभी होगा जब मूक-प्राणियों का घात होगा। बिना जीव-हिंसा के मांस की उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिए कोई भी मांस खाने योग्य नहीं है।

96. रसना-इन्द्रिय पर नियंत्रण रखो, जाति-पंथ-सम्प्रदाय का नाम लेने से हिंसा धर्म नहीं हो सकता, न आपको पाप-कर्म छोड़ सकते।

97. राजा भी अपराध करता है, तो उसका भी न्याय होता है, उसे भी दण्ड

स्वीकारना पड़ेगा, इसी प्रकार से हिंसा कर्म से प्राप्त मांस चाहे तुम धर्म के नाम से सेवन करो या अपने सम्प्रदाय के मुखिया के कहने से करो, पर पाप का बंध होगा ही होगा और दुर्गति का दण्ड मिलेगा, इसमें कोई शंका मत करना।

98. न शिष्य बचा पाएगा, न गुरु, न प्रभु। हिंसा-कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा मांस-भोजी के लिए।

99. यदि वनस्पति एवं गाय-बकरी आदि में तुम्हें एकता दिख रही है, फल-शाक की भाँति यदि मांसादि को मानते हैं, तो फिर अपने माता-पिता, देवता-गुरु आदि को भी तो सामान्य रूप एकभूत देखो, उन्हें खाते हो क्या? खाओगे क्या? आज तक खाया है क्या? तुम संबंधियों को भिन्न मानते हो और गाय-सुअरादि को भिन्न देखते हो, संबंधियों को नहीं खाते हो वैसे ही पशु-पक्षियों को नहीं खाना चाहिए।

100. पशु-पक्षी भी किसी माँ की सन्तान हैं। फल-सब्जी आदि वनस्पति मौसम पर होती हैं, इन्हें प्राप्त करने के लिए वृक्षों को नष्ट नहीं किया जाता है। उसमें भी दयालु-करुणावान् लोग साधारण-वनस्पति नहीं खाते, वे मात्र प्रत्येक-अप्रतिष्ठित वनस्पति ही खाते हैं, जिससे वनस्पतिकायिक-जीव को भी कष्ट न हो।

101. जैसे आपको अपने नख-बाल निकालने पर पीड़ा नहीं होती उसी प्रकार से वृक्षों एवं लताओं से फल निकालने पर अथवा स्वयं ही जमीन पर गिरने पर फलों को ग्रहण करने पर उन्हें पीड़ा नहीं देकर सावधानी से चुनकर लाया जा सकता है, परन्तु मांस बिना हत्या के, बिना पीड़ा पहुँचाए प्राप्त नहीं किया जा सकता।

102. मांस तो जानवरों को मारकर उनका रक्त बहाकर ही प्राप्त किया जाता है। धन्य-धन्य-धन्य धरती के देवता, वीतरागी-श्रमण जो जीव-जन्तु तो दूर, वह घास पर भी पैर नहीं रखते हैं। उनकी दया-करुणा महान् है, इसलिए वे धरती पर भगवान् हैं।

103. जड़ता-वक्रता-अज्ञानता का त्याग करो, पशु-पक्षियों को भी स्व-सन्तान स्व-बंधु जैसा प्रेम दो, वे भी पृथ्वी की गोद के लाल हैं, इसलिए आपके ही भाई-बंधु समान हैं। उन्हें भी कष्ट होता है, उनकी भी रक्षा करो।

104. कोई अल्प-मुग्ध-धी पुरुष ऐसा भी विचार न करे कि अनेक वनस्पति पौधों को कष्ट देने की अपेक्षा एवं अनेक छोटे-छोटे जंतुओं को पीड़ा देने की अपेक्षा; एक विशालकाय भैंसा-ऊँट आदि जानवर को मारकर खायेंगे तो उससे अन्य अनेकों जीवों की रक्षा हो जाएगी। ऐसा विचार भी पाप ही है। अनेक पर करुणा

करके एक का घात करना भी हिंसा है, एक की रक्षा के लिए अनेकों का घात करना भी हिंसा है। भैया! पंचेन्द्रिय विशालकाय जीव की हत्या करना तो दूर, अपितु उसकी हिंसा का भाव करना भी घोर-पाप है।

105. अपनी कुतर्क-छैनी को विराम देकर जगत्-हितकारी अहिंसा-जननी की गोद में बैठकर मधुर फल-रस, अनाज, घृत-दुग्ध का पान करो, रक्त-मांस का सेवन मत करो।

106. दुग्ध को भी हिंसक मानने वाले कुछ लोग शंका करते हैं कि—दुग्ध भी तो शरीर से निकलता है वह भी पशु का अंग है। उसे तो आप अहिंसा-धर्म मानने वाले सेवन करते हैं, उसमें क्या हिंसा का दोष अथवा मांस खाने का दोष नहीं लगेगा? इसके लिए यह समाधान है कि—अहो आश्चर्य! आप लोग पूर्ण-तत्त्वज्ञान सत्यार्थ-बोध से शून्य हो, रक्त-मांस शरीर में है, यह सत्य है। उसी से शरीर निर्मित है। जैसे मल-मूत्र की ग्रन्थि शरीर में भिन्न है, उसी प्रकार दुग्ध की ग्रन्थि भिन्न है। जैसे पशु अथवा मनुष्यनी के शरीर में उत्पन्न मूत्र, न खून है, न मांस है। शरीर के अन्दर होने पर भी शरीर के बाल न रक्त हैं, न मांस और कफ-श्लेष्मादि भी भिन्न तत्त्व हैं, इसी प्रकार से दुग्ध भिन्न तत्त्व है।

107. गो-रस अर्थात् दुग्ध-घृत आदि का सेवन महा-पुरुषों ने भी किया है, परन्तु रक्त एवं मांस का सेवन नहीं किया।

108. गाय-भैंस का दुग्ध नहीं निकाला जाएगा, तो वे कष्ट को प्राप्त होते हैं, वे अस्वस्थ हो जाएँगे और यदि उनका बछड़ा पूरा दूध पी लेगा तो वह भी बीमार हो जाएगा, इसलिए विवेकपूर्वक स्व-बुद्धि का प्रयोग करो।

109. दुग्ध, दही, मट्ठा, घृत, शास्त्रानुसार मर्यादित हैं, उनका सेवन कर सकते हैं, वे रक्त-मांस नहीं हैं। जैसे दुग्ध नहीं निकालने पर गाय-भैंसादि को कष्ट होता है वैसे ही रक्त-मांस नहीं निकालने पर किसी भी जानवरों को कष्ट नहीं होता, अपितु उनके शरीर से रक्त-मांस के निकालने पर उनके प्राण ही जाते हैं, रक्त निकालने पर भी शरीर क्षीण होता है, ऐसा दुग्ध निकालने पर नहीं होता है।

110. विवेकपूर्वक समझो, दुग्ध रक्त-मांस नहीं है, दुग्ध तो दुग्ध ही है। दुग्ध ग्रहण करने योग्य है, परन्तु रक्त, मांसादि किसी भी अवस्था में ग्रहण करने योग्य नहीं है।

111. रोग होने पर निरामिष-वनस्पति, धातु-रसायनमय औषधियों का ही सेवन करना

चाहिए। प्राण-प्रियता के साथ अहिंसा धर्म-प्रिय भी होना चाहिए। अपने सुख के पीछे दूसरे को कष्ट देना यह न तो धार्मिकता ही है और न ही नैतिकता।

112. स्व-प्राणों के राग में पर के प्राणों का घात मत करो, न कराओ और न ही अनुमोदना करो।

113. इतना विशेष ध्यातव्य विषय है कि गाय-भैंसादि के बछड़ों को पर्याप्त दुग्ध अवश्य पिलाया जाए। जब तक वह घास-चारा-दाना नहीं खाता तब-तब उसको दुग्ध पिलाया जावे, उसके साथ दुर्व्यवहार न किया जावे। माँ बछड़े की है, प्रथम अधिकार बछड़े का ही है, तदोपरान्त मालिक का।

114. प्राकृतिक प्रक्रिया से ही दुग्ध निकाला जाय। करुणा पूर्वक दुग्ध निकालें। इस प्रकार दुग्ध सेवन उपादेय ही है, पर मांस सर्वथा हेय ही है।

115. मद्य, मदिरा, शराब, दारू ये सब एकार्थवाचक हैं। दुर्जन हो या सज्जन दोनों की ही पहचान सर्वप्रथम खान-पान से ही होती है।

116. महान्-पुरुष सदैव अपने मन एवं भोजन को पवित्र रखते हैं।

117. जिसका मन एवं भोजन पवित्र नहीं है उसका जीवन कभी भी पवित्र नहीं हो सकता, फिर वह जीवन में महानता को कैसे प्राप्त कर पाएगा? महान्, महात्मा, परमात्मा होना तो उसके लिए बहुत दुर्लभ है, वह श्रेष्ठ मानवता युक्त मानव ही नहीं।

118. श्रेष्ठ-नर की श्रेष्ठता, मन शुद्धि एवं भोजन-शुद्धि पर ही आलम्बित है।

119. जीवन में किसी से प्रभावित होने के पूर्व उसके मन, भोजन एवं भाषण-शुद्धि का ज्ञान कर लेना। वह चाहे सामान्य व्यक्ति हो या विशेष नेता-अभिनेता, पंडित-पुजारी, साधु-सन्यासी, श्रोता-वक्ता, कवि-कलाकार हो, उसकी मुख-शुद्धि, उदर-शुद्धि, मनःशुद्धि हो तो ही उसे स्वीकारना, अन्यथा स्व से अन्तर डालकर चलना।

120. कुल-शुद्धि जो है वह भोजन एवं पेय-शुद्धि पर ही निर्भर है।

121. जिनके खाद्य-स्वाद्य, लेय-पेय विकृत हो चुके उनका कुल भी विकृत समझो और विकृतों की संगति से विकृति ही आएगी।

122. जैसे कोरोना रोगियों के सहवास-स्पर्श से कुल क्षय हो जाता है वैसे ही अशुद्ध-भोजन-पानी सेवन करने वाले के सहवास से धर्म-धन, नीति-न्याय, सत्यता, कुल-जाति की पवित्रता ये सब क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। साधुजन उन्हें किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं कर पाते।

123. देश-राष्ट्र धर्म की रक्षा शुद्धाहार, शुद्ध-विहार, शुद्ध-विचार एवं शुद्ध-आचार से ही सम्भव है, अन्य कोई भिन्न उपाय नहीं है।

124. देवों को तर्पण करने के लिये पशुबलि से स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा, इस प्रकार असभ्य, असत्य, आगम-विरुद्ध भाषण कर स्व-पर का संसार-वर्धन, दुःख बढ़ाने वाले लोग लोक में बहुत हैं।

125. आश्चर्य होता है कि स्वयं को प्रतिबुद्ध समझने वाले लोग अन्ध-विश्वास के असीम गर्त में पड़ जाते हैं और उसे धर्म मानकर उन्मत्त हो रहे हैं।

126. मदिरा जैसी सड़ी, बदबूदार वस्तु से अमृत-भोजी देवों को खुश करना चाहते हैं।

127. जिनकी प्रज्ञा को अविवेक की स्यारिनी खा गई; ऐसे तत्त्वज्ञान-शून्य लोग शराब के अचमन से आत्म-शुद्धि मानते हैं, मद्य के कुण्ड में स्नान कर पाप-क्षय मानते हैं।

128. धर्म-स्थानों पर प्रसाद के रूप में शराब वितरण कर रहे हैं, घोर आश्चर्य ऐसे धर्मान्धों की अज्ञानता पर।

129. कहीं-कहीं लोग धर्म और देवता के नाम पर भीड़ संग्रह कर स्वयं ही मुख से विचित्र-विचित्र ध्वनि निकालते हुए अंग-उपांगों को हिलाहिलाकर अज्ञ-प्राणियों को भ्रम में डालकर मद्यपान करते हैं।

130. मुख से कहते हैं कि—देवता को मदिरा अर्पण करो और स्वयं पी लेते हैं। यह सामूहिक शराब-व्यसन पाप का ही कारण है।

131. पीना तो दूर, छूना भी पाप है, हिंसा है। कोई-कोई देव-स्थान पर मदिरा पान कर चीखता-चिल्लाता है कि—रे भाई! वरदान माँगो। ऐसी अज्ञानता लोगों के मध्य सम्प्रति-काल में भी है।

132. पढ़े-लिखे लोग भी जब अन्धविश्वास की ओर जाएँगे तो अन्य जीवों का क्या होगा?

133. देवों को अमृत-पान से श्रेष्ठ सुन्दर भला अन्य क्या हो सकता है, क्या उस अमृत को छोड़कर देव शराब पियेंगे? इससे बड़ी देवों की मूढ़ता क्या होगी?

134. एक बार मदिरा की उत्पत्ति पर तो विचार कर लो, फल-फूल, खाद्य-द्रव्यों को सड़ा-गलाकर मदिरा का उत्पादन होता है, जिसमें कोटि-कोटि जीवों की हिंसा

होती है। अंगूर, महुआ, गुड़, जवा, गन्ना, खजूरादि पदार्थों से शराब का उत्पादन किया जाता है।

135. अहिंसा-धर्म के पालकों को किसी भी प्रकार की मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए।

136. उच्च कुलोत्पन्नों की पहचान मदिरा पीना नहीं, अपितु शुद्ध-दुग्ध पान करना है।

137. कुलीन-पुरुषों को शुद्ध शरबत, ठंडाई, स्वच्छ आम्र-फलों के रसों का पान करना चाहिए।

138. जिससे धन-धान्य, यश की हानि होती है ऐसी मदिरादि को छोड़ देना चाहिए।

139. शराब जैसे अन्य जो भी नसीले पेय हैं उन सब का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना चाहिए, जिससे मुख-शुद्धि, कुल-शुद्धि सुरक्षित रह सके।

140. शराबी नशे में सब-कुछ भूल जाता है और फिर वह कभी माँ को पत्नी कहता है, तो कभी पत्नी को माँ कहता है, इस प्रकार वह पवित्र-संबंधों में कलंक लगाता रहता है।

141. शराबी की बहुत दुर्दशा होती है, वह नशे में नाली में गिर पड़ता है, मार्ग पर ही पड़ा रहता है, उसके मुख को श्वान चाटते हैं तथा लघु-शंका भी कर देते हैं।

142. शराबी के घर में कभी शान्ति नहीं होती है, मदिरा पान करने वाला अपनी माँ एवं पत्नी के आभूषण-मंगलसूत्र भी बेच देता है।

143. धनपति भी व्यसन के कारण खाकपति हो जाता है।

144. शराबी पर पुत्र-पत्नी, माता-पिता भी विश्वास नहीं करते हैं।

145. एक शराबी के कारण पूरा-परिवार परेशान रहता है, दुःखी रहता है। संबंधी-जन भी शराबी के घर जाना पसंद नहीं करते हैं।

146. उच्च-कुलीन लोग शराब पीना तो दूर है, मदिरा के प्याले को स्पर्श करना भी पाप मानते हैं।

147. आप जीवन में सुख-शान्ति चाहते हैं, उभय-लोक के सुख की भावना है तो शराब पीना ही नहीं शराब पीने वालों के साथ रहने का भी त्याग करो।

148. उनके पात्रों का पानी भी नहीं पीना। इतिहास साक्षी है, शराब के नशे के कारण द्वारका नगर भस्म हो गया, राजकुमारों सहित सम्पूर्ण नगरवासी अग्नि में

जलकर मृत्यु को प्राप्त हुए। हे मित्र! न बोतल की मदिरा पियो, न मोह की मदिरा पियो।

149. एकमात्र परम-ज्ञायक स्वभावी चैतन्य ज्ञान-घन निजात्म-प्रभु की शरण लो; वही लोक में सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दर है। अन्य नहीं, अन्यथा नहीं।

150. जितने जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, भविष्य काल में होंगे, वर्तमान में विदेहक्षेत्र से सिद्ध हो रहे हैं वे सब निज-ज्ञायक स्वभावी भगवान्-आत्मा के आलम्बन से ही हुए, हो रहे हैं।

151. नशीले द्रव्यों की, परिणामों में मोह तथा कषाय-भावों की मदिरा का त्याग करके ही हुए हैं। यदि आपको भी सिद्धि चाहिए तो उभय-मद का त्याग करो।

152. जिसका शील पूर्ण भंग है, अनेक पुरुषों को जो वासना पूर्ति हेतु पति बना चुकी है, धन के लिए जो अपने तन को सौंप चुकी है, जिसका यही व्यापार है, ऐसी नगर-नार, बाजारू नारी **वेश्या** कहलाती है।

153. अनेकों से दूषित नारी का संग सज्जन-पुरुष स्वप्न में भी नहीं करते हैं।

154. चाहे स्वदेश में हों, चाहे परदेश में, परन्तु अपनी विवाहित नारी को छोड़कर संसार की अन्य स्त्रियों का पूर्ण त्याग कर स्वदार-संतोष व्रत का पालन कर, अपने शील धर्म की रक्षा करते हैं।

155. उन्हें इहलोक एवं परलोक के दुःखों से भय सदा रहता है शील भंग का।

156. वेश्यावृत्ति से इस लोक में अपवाद तथा परलोक में दुर्गति होती है।

157. वेश्या-सेवी की स्व-पत्नी कभी भी प्रसन्न नहीं रहती, उसके जीवन में दुःख की घड़ियाँ घटती रहती हैं।

158. वेश्यासेवी को स्व-संतान के सामने सिर नीचा करके जीना पड़ता है।

159. उसे श्रेष्ठ जनों के मध्य कभी भी सम्मान प्राप्त नहीं होता है। जब-जब वह शान्त बैठता है तब-तब वह अपने को हीन-भावना से पीड़ित पाता है।

160. मित्रो! वेश्याएँ तन से कितनी भी सुन्दर दिखें, परन्तु उनका मन कभी सुन्दर नहीं होता। उनकी प्रीति पुरुष पर नहीं, अपितु पुरुष के धन पर होती है।

161. जब तक प्रेमी के पास धन है तभी तक वेश्या का प्रेम है।

162. धनहीन को वेश्या ऐसे छोड़ देती है जैसे गन्ने को रस निकालकर दुकानदार फेंक देता है।

163. वेश्या की किसी भी व्यक्ति पर स्थाई प्रीति नहीं होती है, एक पुरुष के बाद वह शीघ्र ही दूसरे पुरुष को चाहती है।

164. वेश्या का प्रेम नहीं होता, वह मात्र व्यापार करती है।

165. वेश्या-सेवन से एड्स जैसे असाध्य रोग हो जाते हैं, फिर वह व्यक्ति घुट-घुट कर मरता है।

166. अहो आश्चर्य! इतना सब कुछ जानने के उपरान्त भी गृद्धता-युक्त विट-पुरुष श्वानवत प्रवृत्ति करता है। जैसे खुजेला-श्वान कुत्तिया के पीछे जिह्वा निकाले घूमता रहता है वैसे ही कामी वेश्याओं के भोगे झूठे-तन के लिए घूमता रहता है।

167. वेश्यासेवी स्ववंश का शत्रु होता है; जो व्यर्थ में ही अपने वीर्य का व्यय करता है वही व्यक्ति यदि स्वदार-संतोष व्रत का पालन करता, वह स्वयं स्वस्थ रहता और श्रेष्ठ स्वस्थ-संतान को जन्म देता जिससे सनातन धर्म की परम्परा का विकास होता।

168. धन्य-धन्य-धन्य वे नर, श्रावक, गृहस्थ जो अपनी विवाहिता नारी को ही मात्र अपनी पत्नी मानते हैं तथा उसमें संयम के साथ संतुष्ट रहते हैं, अवशेष जगति की अन्य नारियों पर जननी, भग्नीवत दृष्टि रखते हैं।

169. विद्वान्, कवि, न्यायाचार्य, वाग्मी, साहित्याचार्य, धर्माचार्य तभी तक सुन्दर लगते हैं, जब तक वे पापाचार काम से पीड़ित नहीं हुए।

170. सर्व-धर्मों में शील-धर्म प्रधान-धर्म है, उसी का पालन करो।

171. महादुःखों की खान वेश्या-सेवन का त्याग करो।

172. अशुभ-कर्मी स्वयं के घर में भी पूज्यता नहीं पाता, फिर वह जगत्-पूज्य कैसे हो सकता है?

173. सर्व-ग्रंथों का सार 'सत्यार्थ-बोध' समीचीन धर्म का पालन करने से ही आत्म-कल्याण होगा, अन्य किसी भी पापाचार, छल-कपट, ईर्ष्या-भाव, कामुकता से आत्म-हित सम्भव नहीं है।

174. सम्पूर्ण श्रेष्ठ-विचार आत्मानुशासक भव्यवर पुरुष के अन्दर ही आते हैं।

175. स्व-भव्यता का निर्णय भी आप स्वयं कर लें। जैसी भावदशा होगी वैसी ही भविष्य की पर्याय होगी, फिर उसे कोई भी विश्व की शक्ति रोक नहीं सकती, आपकी सम्पूर्ण-व्यवस्था आपके भावों पर ही निर्भर है।

176. वेश्या में आसक्त चारुदत्त की कथा प्रसिद्ध है। सेठ की सम्पूर्ण सम्पत्ति वेश्या

के घर पहुँच गई। जब वेश्या की माँ ने देखा कि इसके घर कुछ नहीं बचा, तो अपनी पुत्री को समझाया कि इसे छोड़ दे, पर वेश्या भी चारुदत्त के प्रति आसक्त हो चुकी थी, इसलिए वह छोड़ने को तैयार नहीं थी। चारुदत्त ने अपने माता-पिता के घर जाना ही छोड़ दिया था, वह वेश्या के ही घर में वास करने लगा था। चारुदत्त मादक पदार्थ का सेवन कर विश्राम कर रहा था, तब वसन्तसेना वेश्या की माँ ने उसे बोरे में भरकर शौचालय में पटकवा दिया। प्रातः सुअर ने बोरे में मुख मारा तो चारुदत्त बोरे में पड़ा-पड़ा ही कहता है कि अरी वसन्तसेना क्यों जगा रही हो, मुझे सोने दो। अहो! कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी आज वेश्या-व्यसन के कारण शौचालय में पड़ा है।

177. शौक के पीछे निरीह, निरपराध मूक-प्राणियों को मार देना **शिकार** है।

178. दूसरे के प्राण-हरण कर क्या वीरता दिखाना? वीर्यवान, बलवान तब कहलाओगे जब रुग्ण-पीड़ित प्राणियों की प्राण रक्षा करोगे।

179. मूक पशु-पक्षियों की हत्या करने वाला कायर पुरुष होता है।

180. पशु, नारी, निर्बलों का वध करने वाला कायर ही होता है। शिकारी क्रूर होता है, जो मुख में तृण दबाए हिरण को भी मार देता है,

181. वीर पुरुष जिसका हृदय दया-धर्म से आर्द्र है वह तो प्रयत्न-पूर्वक मूक-प्राणियों की रक्षा करता है।

182. शिकारी कभी भी सुख-शान्ति का जीवन नहीं जी पाएगा, वह पर को पीड़ा देकर स्वयं कैसे सुखी हो सकता है?

183. निरपराध जीवों का घात मत करो, वे जीव भी जीना चाहते हैं, जैसे आप जीना चाहते हो।

184. जीवों को मारने की अपेक्षा रक्षा करने में अपनी शक्ति का व्यय करो, किसी माँ के लालों को मत मारो। कर्म तुम्हें भी नहीं छोड़ेगा।

185. आप सबल हो, इसलिए आज बलहीनों पर प्रहार कर रहे हो, कभी आप भी बलहीन होंगे तब आप पर होंगे प्रहार। मित्र! कर्म-फल भोगने के लिए तैयार रहना।

186. आज तुम पर के रक्त बहाने में हर्ष मना रहे हो, पर वह दिन भी कभी आएगा जब सिंह-अजगर जैसे जीवों के तुम ग्रास बनोगे, राज-दण्ड को प्राप्त करोगे, तब फाँसी के फंदे पर तुम्हें अपने पापों की याद आएगी कि हमने कितने प्राणियों का गला घोंटा, कितनों के अंग-अंग छिन्न-भिन्न किए।

187. यदि तुम दूसरों को फँसाओगे, उनके प्राण-हरण करोगे तो निश्चित ही तुम्हें उनका कटु-फल भोगना पड़ेगा।

188. आपको जीने का अधिकार है; तो दूसरों को जीने देना कर्तव्य भी समझना चाहिए।

189. दूसरे के प्राण-हरण करके अपनी दुर्गति का आमन्त्रण मत करो।

190. मूक-प्राणियों का हरण कर अपने लिए नरक का द्वार मत खोलो।

191. जब कोई किसी जानवर को मारता है तो उसकी संतान माँ की याद में तड़प-तड़पकर मर जाती है, तब उस शिकारी को उभय-हिंसा का पाप लगता है। शिकार एक क्रूर-कृत्य है, जो दुर्गति का कारण है।

192. किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई वस्तु को उसकी स्वीकृति के बिना ग्रहण करना चोरी है।

193. वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना, कोई भी पर की वस्तु का प्रयोग करता है, तो वह चोरी है। जब आप स्वामी नहीं हो, तो प्रयोक्ता कैसे?

194. कुछ लोग किसी की पड़ी हुई वस्तु को उठा लेते हैं और उसका दूसरे को दान कर देते हैं, तो क्या ऐसा करना उचित है? नहीं, जिस वस्तु पर आपका अधिकार नहीं है, उसका दान कैसा? पर-वस्तु का दान नहीं होता है, एकमात्र स्व-वस्तु को देना ही दान संज्ञा को प्राप्त होता है, वह भी स्व-पर कल्याण के लिए।

195. अधिकार रहित वस्तु का देना, दान नहीं है, वह तो अपराध ही है। पर-द्रव्य का प्रयोग किसी भी निमित्त से करो; वह चोरी है।

196. दूसरे के मंदिरों, तीर्थों, मूर्तियों पर अपना स्वामित्व स्थापित करना **चोरी** ही है।

197. पर के लिखित ग्रंथों पर अपनी प्रशस्ति लिखकर अथवा लिखवाकर स्व-स्वामित्व बताना साहित्य की **चोरी** है।

198. किसी के प्राचीन धर्म स्थलों पर अधिकार कर लेना यह पुरातत्व की चोरी है, संस्कृति की **चोरी** है।

199. धर्मात्मा की मुद्रा और भेष बनाकर जीने वाले कोटि-कोटि मनुष्य हैं, पर अस्तेय-अचौर्य-व्रत के साथ जीने वाले सज्जन बहुत ही कम हैं।

200. कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें मालूम है कि हमारे पूर्वजों ने चोरी की थी, वह धन-धरती, तीर्थ-क्षेत्र, मंदिर आज हमारे पास हैं, फिर भी उपयोग कर रहे हैं,

वहाँ के पुजारी, पंडित, स्वामी बनकर बैठे हैं, यह सब चोरी की सामग्री प्रयोग करने वाले **तस्कर** हैं।

201. सत्यवादी तो करुणाशील, अहिंसक, स्याद्वादी, अनेकान्तवादी होता है।

202. यदि एक बार भी जीवन में **'सत्यार्थ-सूत्र'** हो जाए तो कभी न कभी सत्य जीवनचर्या व वाणी-सत्यार्थ होगी, यह परम सत्य है।

203. सदियाँ बीत जाने पर भी पर-वस्तु तो पर ही रहेगी, वह निज-वस्तु नहीं हो सकती है।

204. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संपत्ति प्राणों से भी प्रिय होती है, व्यक्ति धन-अर्जन करने के लिए सात-समुद्रों को भी पार कर जाता है, दिन-रात अर्थ-पुरुषार्थ में लगाता है, तब कहीं पुण्य-योग, लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से व्यक्ति को अर्थ-लाभ होता है।

205. जो व्यक्ति दूसरे के धन का हरण करता है, मानो वह उसके प्राणों का ही हरण करता है।

206. आगम में उपचार से धन को ग्यारहवाँ प्राण कहा है।

207. अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए अचौर्यव्रत के पालन के लिए किसी भी व्यक्ति के धन-धान्य, नारी, भूमि-तीर्थ, ग्रंथ, प्रतिमा-मंदिरों पर अनधिकृत अधिकार मत करो, अपनी सत्य-सज्जनता का परिचय दो, यही भारतीय-संस्कृति की भूतार्थ पहचान है।

208. पाप करने वाले को पापी के भेष में ही पाप करना चाहिए, धर्मात्मा के भेष में पाप करने से सर्व-साधुओं पर शंका होती है।

209. दुराचारी के द्वारा धर्म की बदनामी नहीं होती, अपितु जो धर्मात्मा भेषधारी हैं उनके द्वारा धर्म-मार्ग बदनाम होता है।

210. धर्मात्मा के भेष में पाप करने से अन्य सभी सच्चे धर्मात्माओं के प्रति भी आस्था समाप्त हो जाती है।

211. यदि धर्म-मार्ग आपको कठिन लगता है, संयम के पालन में अपने आपको असमर्थ महसूस करते हैं, कामनाओं-वासनाओं पर आपका नियंत्रण नहीं है, तो धर्म की बदनामी मत करो, अपितु स्वगुरु व समाज से प्रार्थना कर लो कि मेरे द्वारा श्रेष्ठ-मार्ग पर चलना कठिन हो रहा है, मैं असमर्थ हूँ, मैं धर्मात्मा के भेष में मायाचारी का जीवन नहीं जीना चाहता हूँ।

212. वे लोग लोक में महा-निन्दनीय हैं जो कामनाओं, वासनाओं को संयमित किए बिना साधु-भेष को धारण कर अशुभ-कर्म में संलग्न हैं, पर अहं के कारण भेष नहीं छोड़ते, अशुभ-कर्म भी नहीं छोड़ते और लोक प्रतिष्ठा चाहते हैं।

213. ऐसे दुराचारी, पापियों की कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं बचती है और न ही आत्मप्रतिष्ठा ही बचती है। ऐसे बकवृत्ति वाले जीव पृथ्वी पर भारभूत हैं।

214. अशुभ-कर्मों का फल अशुभ ही होता है। बीज के अनुसार वृक्ष होता है और तद्रूप ही फल की प्राप्ति होती है।

215. इसलिए ऐसा कोई न सोच ले कि धर्म के भेष में कुछ भी कर सकते हैं। कर्म-सिद्धान्त दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है।

216. वर्तमान में भी जिन्होंने धर्मात्मा के भेष में खोटे कार्य किए उन्हें जेल जाना पड़ा।

217. यदि आपको अपयश, कष्ट, दुर्गति से बचना है तो अशुभ-कर्म मत करो।

218. पाँच अणुव्रतों में ब्रह्मचर्याणुव्रत भी एक महान् व्रत है; इसे ही स्वदार-संतोष व्रत कहते हैं। इसमें स्व से विवाहित स्त्री मात्र को पत्नी के रूप में देखना, अवशेष नारियों को बहिन-माँ की दृष्टि से देखना।

219. मनुष्यनी स्त्री ही नहीं, देवी, तिर्यञ्चनी तथा अचेतन-स्त्री रूप पुत्तलिका चित्र-स्त्री को देखकर भी अपने परिणामों को अशुभ नहीं करना तथा स्व-पत्नी के साथ भी संयमित रूप से असंयम का सेवन करना।

220. श्रेष्ठ-जन मात्र सनातन-धर्म एवं वंश परम्परा हेतु ही संतान के उद्देश्य से काम-सेवन करते हैं।

221. जो पुरुष काम-सुख पर नियंत्रण रखता है वह सिंह जैसा शक्ति-सम्पन्न होता है, जो गजराज को भी परास्त कर लेता है।

222. जो कामी लोग होते हैं, वे अनियमित काम सेवन करके, शक्तिहीन, कमजोर श्वान, सुअर-बकरे की प्रवृत्ति वाले होते हैं।

223. वीर्य (शुक्र) सौम्य-धातु के क्षय से सातों ही धातुओं का क्षय होता है, जिससे शरीर दुर्बल, बलहीन हो जाता है। उसकी स्मरण-शक्ति, धारणा-शक्ति, वाक्-शक्ति, तेज-ओज, नेत्रों की ज्योति क्षीण हो जाती है।

224. रोग-निरोध शक्ति-सामर्थ्य भी क्षीण हो जाती है, वह क्षय-रोग से पीड़ित हो जाता है, एड्स जैसे रोग हो जाते हैं। लोग उसके पास आना भी पसंद नहीं करते हैं।

225. अति-मैथुन सेवन से महाकष्ट-प्रदायक रोग हो जाते हैं, ऐसे दुराचारी के संसर्ग से शरीर, धर्म, कीर्ति सभी नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

226. परस्त्री-व्यसनी को बाल-वृद्ध सभी उपहास की आँख से देखते हैं।

227. स्व-स्त्री के साथ अति-काम सेवन से भी उक्त सभी रोग हो सकते हैं, तब फिर जो पर-स्त्री सेवन करेगा उसकी क्या दुर्दशा होगी?

228. पर-स्त्री लम्पट पुरुष आषाढ़-मास का कामुक बैल ही है अथवा आसोज महीने का श्वान जो लोक-लाज शून्य पशुवत क्रिया करता है।

229. पर-स्त्री सेवी बिना पूँछ एवं सींग के बैल ही हैं, भावीकाल के नारकी, कुल-जाति-वंश-धर्म की पवित्रता का नाश करने वाले होते हैं।

230. पर-स्त्री सेवी जीवित होने पर भी मृतक मुर्दे-तुल्य घूमते हैं।

231. पर-स्त्री अर्थात् चाहे विवाहिता हो या अविवाहिता, दासी हो या महारानी, स्व-जननी हो या बहिन, चाची की बेटी हो या मौसी-मामी की या स्व-पुत्री—ये सभी पर-स्त्रियाँ ही हैं।

232. विवाहित पर-ग्रहीता हो और कन्या अपरिग्रहीता हो, आपके लिए तो दोनों ही पर हैं।

233. पापियों को न कन्या-धर्म दिखता है, न बहिन, न माता। अहो! अहो! तीव्र घोर-पापी, कामुक को कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

234. पर-रमणी में रमण के भाव ही भाव-विशुद्धि का नाश कर देते हैं, परस्त्री-गामी कभी भी निर्भय जीवन नहीं जीता, वह प्रतिक्षण भयभीत रहता है।

235. स्वकृत-कुकर्म का रहस्य लोक में प्रकट न हो जाय, इसलिए चिन्ता में भयभीत होता रहता है, ऐसा मानव स्व एवं पर का घातक होता है।

236. पर-स्त्री लम्पट रावण की क्या दशा हुई सर्व-विश्व प्रसिद्ध है। वंश, सम्पत्ति, राज्य-वैभव, यश-कीर्ति क्षण मात्र में विलीन हो गई। जिस चक्र-रत्न से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था, जिसके नियोग से अर्द्धचक्री पद प्राप्त हुआ, इन्द्र जैसा राजा जिसके यहाँ सेवा में थे, वही रावण एक पर-स्त्री के राग वश हो उसी चक्र-रत्न से स्व-सिर का छेद करा बैठा।

237. कुलंकर बनकर जिओ, कुलांगार मत बनो, पर-स्त्री व्यसन से दूर रहो।

238. 'पिट्ठ-मांसभोजी' तात्पर्य पीठ पीछे चुगली करना, बुराई-निन्दा करना यह भी व्यसन है।

239. बड़े-बड़े राज-घराने चुगलखोरों ने नष्ट करा दिए, सामान्य-जन की क्या बात? चुगली एक ऐसा व्यसन है जिससे चुगलखोर स्वयं तो दूषित होता ही है, अपितु वह दूसरों की चुगली कर दूसरों के भावों का भी घात करता है।

240. चुगलखोर के अन्दर एक समय प्रमाण काल भी किसी की गुप्तबात गुप्त नहीं रहती, वह गुप्तबात को भी शत्रु हो या मित्र, सामान्यजनों में भी फैला देता है और परस्पर में कलह कराकर खुशी मानता है।

241. वह चुगलखोर भूल जाता है कि मेरी चुगल-खोरी से अशान्ति फैल जाएगी। न वह स्वयं ही शान्ति से जीता है, न ही दूसरे को शान्ति से जीने देता है।

242. जैसे सज्जन लोग साँप, सिंह को देखकर सावधान हो जाते हैं, वैसे ही चुगलखोर के नाम से ही सावधान हो जाते हैं।

243. नारदजी की चुगली क्या जगत् प्रसिद्ध नहीं है? मन्थरा ने क्या नहीं करा दिया, राम जैसे महापुरुष को वनवास करा दिया, यह लोक-प्रसिद्ध है।

244. प्रज्ञजनों को अपनी गुप्त, गूढ़-बात पिशून स्वभावी पुरुष के सामने कभी नहीं करना चाहिए। समय, अवसर, व्यक्ति देखकर ही अपनी बात को कहना चाहिए।

245. गुरु, पिता, नेता, अधिकारी, सम्राट् आदि का प्रिय बनने के लिए व्यक्ति चुगली करता है।

246. चुगलखोर को आगम में असत्यवादी कहा है।

247. जो व्रती हो और चुगलखोरी करता हो तो वह स्वयं को सत्यव्रती न माने। उसके पास अहिंसा-व्रत भी नहीं है, क्योंकि वह स्व-पर की भाव-हिंसा में लीन है।

248. चुगली कभी-कभी द्रव्यहिंसा का भी कारण बन जाती है।

249. चुगली के कारण युद्ध भी हो जाते हैं, इसलिए सज्जनों को चुगली-व्यसन से अपनी आत्मरक्षा करना चाहिए।

250. चुगलखोर अपनी आदतों के कारण सभी लोगों का विश्वास समाप्त कर लेता है और फिर वह अपने प्रति अविश्वास उत्पन्न करा लेता है।

251. वह कितना भी श्रेष्ठ, चारित्रवान, धनवान ज्ञानवान हो फिर भी लोग यही कहते हैं कि—सब ठीक है, परन्तु दूसरे की निन्दा करता है, चुगली करता है, कब क्या बोल दे, इसलिए इससे सावधान रहो।

252. चुगली करने वाला विघ्न-संतोषी होता है, कलह-प्रियता उसकी परम सखी है।

253. वे लोग पुण्यात्मा हैं जिनको कोई चुगली करने वाला नहीं मिला।

254. चुगली करने वाला न स्वयं ही शान्ति से रहता है और न ही दूसरों को रहने देता है। वह चुगली करने वाला यथार्थ में ईर्ष्यालु होता है।

255. श्रम की थकान दूर करने के लिए विश्राम करना, निद्रा लेना आवश्यक है। संपूर्ण औषधियों का अपना एक स्थान है, परन्तु नींद का अपना ही महत्त्व है।

256. तनाव ग्रसित, चिन्ता युक्त, काम-वासनाओं से पीड़ित व्यक्ति को शीघ्र ही सोना उचित है।

257. इष्ट-वियोग से दुखित आर्तध्यान में बैठे व्यक्ति को पूर्ण-निद्रा मिल जाए तो उसका वियोग-जन्य दुःख हल्का हो जाता है।

258. निद्रा न भी आए फिर भी आँखें बन्द कर शान्ति से परमात्मा का स्मरण व तत्त्व-चिन्तन करते रहना चाहिए जिससे श्रम की थकान एवं चिन्ता की ज्वाला अवश्य ही शान्त होगी।

259. नींद से शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही थकानें दूर हो जाती हैं, नवीन स्फूर्ति का संचार होता है, चित्त प्रसन्न होता है और चिन्ता का विस्मरण हो जाता है।

260. नींद प्राकृतिक ही लेना चाहिए। निद्रा लेने के लिए गोली आदि न खावें और न ही अन्य किसी को सलाह दें, क्योंकि उष्ण-औषधि व्यक्ति के अन्दर धीरे-धीरे उन्मत्तता को जन्म देती है।

261. ऐसा उन्मादी कई बार आत्महत्या का भी प्रयास करता है, उसके मुख की आभा भी फीकी पड़ जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा सा हो जाता है। वह सामान्य जीवन से हटकर जीवन जीने लगता है।

262. कुछ लोग शीघ्र सो जाते हैं, तो कभी देर से; ऐसे लोगों की कोई समय-सारिणी ही नहीं होती है, वे हमेशा मानसिक एवं शारीरिक दुःखों से पीड़ित रहते हैं।

263. नियतकाल में नींद लेना चाहिए और नियतकाल में ही उठ जाना चाहिए, क्योंकि असमय का जागना तथा सोना दोनों ही स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं।

264. जो शाम होते ही सो जाते हैं और प्रातः सूर्योदय के बाद जागते हैं, वे विशिष्ट-विद्या की सिद्धि नहीं कर पाते हैं।

265. ब्रह्म-मुहूर्त में सूर्योदय के पूर्व जाग जाना चाहिए। ब्रह्म-मुहूर्त सोने का नहीं, ध्यान-अध्ययन का है। विद्यार्थी-जनों, साधु-महात्माओं, सज्जनों को सूर्योदय के पूर्व ब्रह्म-मुहूर्त में शय्यासन छोड़ देना चाहिए और प्रभु-भजन, आत्मध्यान, विद्याध्ययन में लग जाना चाहिए।

266. एक स्वस्थ पुरुष के लिए छह घण्टे की नींद पर्याप्त है। शिशु-बालक को अधिक सोना चाहिए, पर युवा को छह घण्टे पर्याप्त हैं।

267. योगी जन तप-साधना से निद्रा-विजय करते हैं, फिर भी उन्हें शरीर श्रमानुसार अल्प निद्रा लेना चाहिए।

268. मित-भाषण, मित-भोजन, मित-निद्रा योगी-जनों की पहचान है।

269. अतिनिद्रा और अनिद्रा दोनों ही रोग हैं, दोनों के होने पर व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है, पागलपन छा जाता है।

270. यदि नींद न आवे तो शान्ति से सद्-साहित्य का स्वाध्याय करना चाहिए, धीरे-धीरे नींद आ जाएगी।

271. नींद न आने पर रोगी को पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए। दिन में भोजन में आँवला लेना चाहिए तथा सिर में ब्राह्मी, जटामासी व बादाम का तेल लगाना चाहिए, सरसों का तेल पैर के तलवों में लगाएँ, परन्तु नींद की गोली न खाएँ।

272. रात्रि में उचित विश्राम करें, दिन में उद्यम करें। दिन में सोने का पूर्ण निषेध समझना चाहिए।

273. आगम दृष्टि से दिन में सोने से दर्शनावरणीय तथा ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट आस्रव-बंध होता है, इसलिए दिन में सोने की आदत नहीं बनाना।

274. दिन में सोने की आदत एक व्यसन है जो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक क्षति का कारण है।

275. ज्ञान-क्षेत्र भी दिन के सोने से प्रभावित होता है। ग्रीष्म-काल को छोड़कर शेष काल में दिन में सोने के लिए आयुर्वेद-शास्त्र भी निषेध करता है।

276. ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोने वाले के रोगवृद्धि तथा मृत्यु होने का निरूपण धन्वन्तरि ने किया है।

277. आचार्य प्रवर श्री सोमदेव सूरि ने 'नीति वाक्यामृतम्' ग्रंथ में लिखा है कि— 'दिन में शयन शरीर में छिपे हुए अनेक रोग रूपी सर्पों को जगाने का कारण और समस्त कार्य-सिद्धि में बाधक है।'

278. दिन में सोने से प्रमाद, आलस्य, कफ-वृद्धि, मोटापन, बुद्धि की ठसता, विस्मरणशक्ति की वृद्धि आदि होती है। समझदारों को प्रयत्नपूर्वक दिन में नहीं सोना चाहिए।

279. पर-निन्दा करना बहुत खोटा व्यसन है, जो नीच गोत्र का कारण है।

280. निन्दा-रसालु से बचना बहुत ही कठिन कार्य है, कब किसका लोकापवाद करा दे; निन्दक का कोई विश्वास नहीं।

281. पिशुनता एवं निन्दा में बहुत अन्तर है। पिशुनता अर्थात् किसी की गुप्त बात को उद्घाटित करना, दूसरों को बताना, निन्दा में व्यक्ति किसी दोष के न होने पर भी उस पर आरोपण कर दूसरों को बताता है।

282. बुराई करना निन्दा है, पिशुनता एवं निन्दा ये दोनों ही अविश्वास के कार्य हैं।

283. पर-निन्दक अपने जीवन का उत्थान नहीं कर पाता है, क्योंकि उसे पर दोष-दर्शन से समय ही नहीं मिलता।

284. बिना विचार के किसी भी कार्य की पूर्णता नहीं होती है।

285. पर-निन्दा नीचकर्म है। श्रेष्ठ जन परनिन्दा के दोष से हमेशा स्वयं की आत्मरक्षा करते हैं।

286. दूसरों की निन्दा करते ही बड़े से बड़े पुरुष भी शीघ्र ही लघु हो जाते हैं।

287. पर-निन्दा से पूज्य से पूज्य भी तुरन्त अपूज्यता को प्राप्त हो जाता है, सम्माननीय भी असम्मान को प्राप्त होता है।

288. अशुभ-भाषा, अशुभ-भाषण सुनने का मन भव्य-पुरुषों का कभी नहीं होता है।

289. भव्य-धर्मात्मा जीव साधु-महात्माओं के, विद्वानों के सानिध्य को प्राप्त होते ही चातक-पक्षी की भाँति एक-टक हो ज्ञानीजनों के मुख-मण्डल की ओर दृष्टि लगाता है।

290. जैसे चातक स्वाति-नक्षत्र की पानी की बूँद को देखता है; उसी प्रकार धर्मात्मा तत्त्वज्ञ-पुरुषों के श्रीमुख को देखता है। कब स्वाति की बूँदवत इनके श्रीमुखकमल से 'सत्यार्थ-बोध' पूर्ण भूतार्थ-देशना प्रकट हो और मैं अपने कर्ण-पटलों की अंजुली लगाकर पी लूँ।

291. व्यर्थ की बातें, व्यर्थ के कार्य हमारी आत्मोन्नति के कारण न हैं, न थे, न ही भावी काल में होंगे, इस बात को आत्मार्थी-जन भली-भाँति जानते हैं।

292. सज्जन जगति पर लौकिक कार्य एवं लौकिक कारणों से अपने आपको दूर रखते हैं तथा सदा सुश्रुत के श्रवण, मनन, चिंतन, संभाषण में अपने आयुकर्म के निषेकों को लगाते हैं।

293. स्व-प्रशंसक, पर-निन्दक नीचगोत्र का आस्रव करता है।

294. मनुष्य बने तो लोक निंदित कुल में जन्म लेता है, जिसे लोग स्पर्श करना भी पसन्द नहीं करते। ऐसी विडम्बना होती है, पर दोष उद्घाटक की।

295. पर-निन्दा ऐसा व्यसन है जो बिना नशे का नशा होता है। निन्दा-रसिक न दिन देखता है, न रात्रि देखता है, न भवन-महल-मशान या मन्दिर कहीं भी, उसे तो अवसर मिलना चाहिए, वह दूसरे की बुराई करना प्रारंभ कर देता है।

296. निन्दक जिसकी निन्दा करे, उसी की अपन प्रशंसा कर दो तो वह निन्दा करना छोड़ देगा।

297. निन्दक पर की निन्दा उसी के सामने करता है जो सुनता है।

298. जो सज्जन पर की निन्दा न करता हो और न सुनता ही हो उसके सामने कोई भी किसी अन्य की निन्दा करने की शक्ति नहीं जुटा पाएगा।

299. कोई यह भी न सोचे कि—निन्दा करने वाले को नीच-गोत्र का आस्रव-बंध होगा मुझे नहीं। अरे भाई! भ्रम निकाल दो यह कि सुनने से बंध नहीं होता। सुनने से भी व्यक्ति को ऐसा रस आता है जैसे धूम्रपान करने वाले के धुँए को सूँघने वाले को। क्या आप यह नहीं जानते कि धूम्रपायी के साथ बैठने मात्र से भी कैंसर जैसी बीमारी हो जाती है।

300. जैसे कोरोना जैसी महामारी रोगी के समीप से निकलने मात्र से हो रही है, उसी प्रकार से निन्दा सुनने मात्र से भी नीच गोत्र का आस्रव होता है।

301. नीच-गोत्र से बचने के भाव हैं तो न पुण्यात्मा की, न पुण्यक्षीण की निन्दा करो, आपके द्वारा की गई निन्दा न किसी के पुण्योदय को घटाएगी न बढ़ाएगी, व्यर्थ अपने वचन-बल का दुरुपयोग करने का क्या लाभ? कोई पुण्य लाभ नहीं है, अपितु पुण्यद्रव्य का व्यर्थ में ही क्षय है।

302. वे लोग लोक में करुणा के पात्र हैं जो निन्दा-व्यसन से पीड़ित हैं।

303. जैसे महापापी को अपने तन-धन-घर की दयनीय स्थिति का भान नहीं रहता, पैसे-पैसे को तरसता है, फिर भी मदिरा पान करता है, ऐसे ही निन्दा रसालु, निन्दा-व्यसनी को बोध होता है कि मुझे पर की निन्दा करने से कुछ नहीं मिलेगा, मेरा पुण्य ही क्षय होगा, अविश्वास, अपकीर्ति ही मिलेगी, ज्ञानी-जनों के मध्य कोई सम्मान नहीं बढ़ेगा, फिर भी निन्दा किए बिना बेचारों का मन नहीं मानता है।

304. कुछ अलिखित निन्दा करते हैं मुख से वह तत्काल की है, पर कुछ तीव्र-कषायी जीव होते हैं, वे दूसरे की निन्दा लिखकर दीर्घ-कालिक करते हैं। वे जगत् के लोगों को कहते हैं कि—मैं सत्य का प्रकाश कर रहा हूँ, पर उन निन्दक को सत्यार्थ का बोध ही नहीं, निन्दा कर्म ही असत्य है।

305. वहीं जो निन्दा है; वह अज्ञान, ईर्ष्यावश होती है।

306. पदार्थ-बोधक आगम अगाध है, शास्त्र एक विराट्-सागर है, उसमें कौन नहीं डूब सकता है? उसमें पार पाने के लिए श्रेष्ठ नाविक का आश्रय ले लेना चाहिए।

307. यदि गूढ़-ग्रंथों का रहस्य समझ नहीं आए तो ज्ञानी आचार्य, उपाध्याय, साधु या तद्विषयक विद्वान से समझना चाहिए। बिना जाने, बिना समझे किसी भी दर्शन के सिद्धांतों-क्रिया-पक्षों, आराधना-साधना, भक्ति-पूजा-अर्चना, मंत्र-उपासना, विधि पर निन्दात्मक-आलेखन या वक्तृत्व-भाषण स्व-अज्ञानता को दीर्घ-काल तक स्थापित करना है।

308. यदि आपको बोलने-लिखने की भावना है, तो उसे रोककर सर्वप्रथम ज्ञाता बनो। पहले ज्ञाता बनो, फिर प्रवक्ता बनो।

309. प्रसिद्ध जीवित कार्यकारी नहीं मृत्यु के बाद भी आपका साहित्य आपकी आन्तरिक-सत्यता को उद्घाटित करता है, इसलिए सभी लेखक कवि इस बात पर ध्यान दें।

310. अपनों के मध्य वाह-वाह! आपका कीर्ति-स्तंभ नहीं, आपका देह-वियोग होने के बाद आपकी एवं आपके द्वारा लिखित साहित्य की सम्यक्-समीक्षाएँ वसुन्धरा पर मनीषियों विद्वानों द्वारा होती रहे, वहीं होगा तुम्हारा स्थाई कीर्ति-स्तंभ।

311. सहस्त्रों वर्ष व्यतीत हो गए फिर भी सम्प्रति भारत ही नहीं सर्व-विश्व वसुन्धरा पर दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जैसे साहित्यकारों का सुयश वर्धमान हो रहा है, उनका महान्-ग्रंथ 'समयसार' विश्वविख्यात है।

312. शास्त्रों का स्वाध्याय, ज्ञान-तत्त्व का गंभीर-चिंतन भाव-विशुद्धि का प्रबल कारण है, जो पर-निन्दा से रहित होता है।

313. ज्ञानी जीव की प्रथम पहचान होती है कि वह पर-निन्दा व्यसन से अत्यंत दूर ही रहता है।

314. सुतर्कों के माध्यम से तत्त्व की समीक्षा की जा सकती है, परन्तु तर्क-शून्य कुतर्कों से ज्ञानीपने की पहचान नहीं होती है।

315. सत्यार्थ-बोध स्याद्वाद-अनेकान्त से ही सम्भव है, स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि के आलम्बन लिए बिना वस्तु-तत्त्व का सम्यक्-प्ररूपण असम्भव है।

316. प्रत्येक वक्ता व लेखक को स्याद्वाद-शासन का गम्भीर अध्ययन निष्णात-विद्वान् से करना चाहिए।

317. जो आपका स्वयं का अध्ययन-चिंतन-मनन है वह तो आपके पास है ही; वह कहीं जाने वाला नहीं, इसके साथ स्याद्वाद-दर्शन (जैन-दर्शन), चारों-अनुयोगों का ज्ञान भी कर लेना चाहिए। व्यक्ति की सोच में विशालता आए बिना रह नहीं सकती है।

318. वह अपनी बात को कहने के पूर्व नय-दृष्टि पर अवश्य ही विचार करेगा। कहीं मेरे वचनों या लेखन के द्वारा किसी सत्य तत्त्व का घात तो नहीं हो रहा, ऐसा विचार, अहिंसा-धर्म से विभूषित, स्याद्वादी अवश्य ही करेगा।

319. अनेकान्त-दृष्टि से विचार करने वाला सज्जन-पुरुष पर-निन्दा से अत्यन्त दूर हो जाता है।

320. पर-निन्दा व्यसन से आत्म-रक्षा करो, स्व-अवगुणों को देखो, स्व-अवगुणों की सुधार करो, यही मानव-धर्म है।

321. साधक-श्रावक दोनों का ही समय अर्घवान है, जीवन स्वच्छ-श्रेष्ठ बनाना है तो समय की रक्षा करना सीखो।

322. जो समय की रक्षा करना जानता है उसी की सर्वत्र रक्षा होती है।

323. जो समय के मूल्य को नहीं समझता है उसके जीवन का भी कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता है।

324. जीवन में प्रतिक्षण समय-रक्षा के भाव आना चाहिए। जो समय निकल गया; क्या वह पुनः प्राप्त होगा? पल-पल नवीन-नवीन आयाम तैयार करना।

325. मित्रो! एक श्वास ली, क्या पुनः श्वास लेने तुम जीवित ही रहोगे? आपको भरोसा है? इसलिए विवेकशीलों को वही कार्य करना चाहिए जिससे समय का दुरुपयोग न हो।

326. साधक का आत्महित के अलावा अन्य कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिए, व्यर्थ के कार्यों में समय व्यतीत मत करो। श्वास-श्वास की कीमत है। आयु पूर्ण होने पर फिर एक मिनट भी अतिरिक्त प्राप्त नहीं हो सकेगा।

327. जिसकी मनोरंजन के प्रति तीव्र लालसा है वह अपना सब कुछ न्यौछावर कर देता है, उस लंपटी को अच्छे-बुरे का कुछ भी विवेक नहीं रहता है। यहाँ तक कि वह किस पद पर आसीन है, यह भी भूल जाता है और अपने से च्युत हो जाता है।

328. जितना अधिक आप सामान्य-जनों के मध्य बैठोगे आप उतने ही सामान्य होते जाओगे।

329. गीत-श्रवण-व्यसन जिसको लग गया वह दिन-रात उसी में आसक्त रहता है। गृह-कार्य, राज्य-कार्य, आत्म-साधना की भावना सब चौपट हो जाते हैं।

330. साधु व सम्राट् को हमेशा स्व-कार्य के प्रति जाग्रत रहना चाहिए। गीत-गानों में उन्मत्त न साधना कर पाएगा और न ही राज्य सँभाल पाएगा।

331. गीत-गानों में गंभीरता का नाश हो जाता है, फिर उसका सज्जनों-महाजनों, साधु-वृन्दों में स्थान नहीं होता है।

332. गाने वाले का अपना एक स्थान रहता है, क्योंकि गान भी एक कला है, विद्या है; परन्तु उसका स्थान पूज्य नहीं संगीतकार का ही होता है।

333. लोक में भी देखा जाता है कि साधु, सम्राट् का आसन संगीतकार से उच्च ही होता है।

334. राजा प्रजा पर अनुशासन की विद्या का सतत अभ्यास करे, साधु आत्मानुशासन का अभ्यास करे, तो निश्चित्त ही उसका विकास संभव है। संगीतकार सतत सप्त-सुरों का अभ्यास करे, तभी वह अपनी विद्या में निष्णात होगा।

335. आत्म-कल्याणार्थ साधक को राज्य व संगीत दोनों का ही त्याग कर; योग-उपयोग को सँभालने का अभ्यास करना चाहिए, वह भी अन्तरंग-बहिरंग विकल्पों से विमुक्त होकर।

236. लोक नाना लोगों से पूर्ण है; जितने संसारी-जीव हैं वे सब स्व-क्षयोपशम से युक्त हैं।

237. जिस जीव का जैसा स्वयं का क्षयोपशम रहता है, वैसे-वैसे लोगों के प्रति उसका संपर्क होता है और वह वैसे-वैसे ही लोगों को पसन्द करता है।

238. सामान्य भाषा में जिसकी जैसी मति होती है उसकी गति भी वैसे ही कार्य में होती है। उपचार से दूसरे पर अच्छे-बुरे संस्कार डालने का आरोप आता है। उसे कोई समाप्त भी नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहिए, अपितु निमित्त-उपादान को समझकर तटस्थ, मध्यस्थ हो जाना चाहिए।

239. जीव की योग्यता स्व-पुरुषार्थ से ही बनती है। जैसी पुरुषार्थ की गति होती है उसकी वृत्ति वैसी-वैसी बनती चली जाती है, यही पूर्ण-भूतार्थ है, सत्य है।

340. जिस दर्शन से पर-लोक तो दूर वर्तमान में ही आपकी साधुता-आत्मानुशासनता के अभाव का दिग्दर्शन होने लगे, ऐसे दर्शन का सर्वत्र सर्वथा त्याग होना चाहिए।

341. ज्येष्ठ-जनों को समय-प्रमाण-समय भी क्षुद्र कार्यों में नहीं देना चाहिए।

342. पर-दर्शन में सज्जनों को अपनी सज्जनता की बलि नहीं दे देना चाहिए।

343. धर्मात्माजन प्रभु-दर्शन, गुरु-दर्शन, तीर्थ-दर्शन, सद्-शास्त्रों, आगमों के दर्शन में अपने नयनों का सम्यक्-प्रयोग करते हैं।

344. अज्ञ, विवेक-बुद्धि के दरिद्रीजन अपना अमूल्य, दुर्लभ-समय भांड, नृत्य-गानों में विलीन करते हैं, उन्हें सुर-दुर्लभ नर-देह की कीमत का बोध नहीं है।

345. मानव-पर्याय आत्म-कल्याण के लिए प्राप्त हई है; नृत्य-दर्शन के लिए नहीं, पूर्व-पूर्व पर्यायों में यही-यही करते, देखते आए हैं। आज क्या नया है?

346. नाभिनन्दन को नृत्य दर्शन से नहीं, अपितु आत्म-दर्शन से भगवत्ता की उपलब्धि हुई। तत्त्व-निर्णय, आत्म-दर्शन, स्वात्म-चर्या, मनीषियों की गोष्ठी छोड़ नारी-नृत्य में बैठें, उनका अवलोकन करें, यह बात सज्जनों को सुपाच्य नहीं है, एकमात्र दुर्जन ही पचा सकते हैं।

347. नारी-नृत्य, नारी-सम्मेलनों में अपना अमूल्य-समय नष्ट न कर, आत्म-दर्शन, यतियों के सम्मेलन के दर्शन ही त्यागियों को शोभा देते हैं।

348. जो कार्य धर्म एवं लोक-विरुद्ध हो उस कार्य में सज्जन जनों को किञ्चित् भी रुचि नहीं दिखाना चाहिए।

349. पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा की मर्यादा तभी तक है, जब-तक नृत्यादि वृत्तियों में सामूहिक नहीं बैठेंगे।

350. चेतन-नृत्यांगनाओं को देखने का तो पूर्णनिषेध है ही, अपितु श्रेष्ठ-जनों को दूरदर्शनों चैनलों में भी बिना मर्यादा के सन्तानादि के साथ अशुभ-सिनेमादि नहीं देखना चाहिए।

351. श्रेष्ठ तो यही है कि व्यर्थ के कार्यों को समय ही नहीं देना चाहिए।

352. गुणीजनों को प्रशस्त धार्मिक चित्रों का दर्शन करना चाहिए तथा उसी का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।

353. आपका अनुशासित जीवन ही लोक-प्रसिद्धि, आत्मसिद्धि प्रदायक है, अन्य कोई उपाय भी नहीं है। स्वात्म-तत्त्व का दर्शन स्वात्म-भावना पर आलम्बित है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

354. घन, सुषिर, ताल, मृदंग, धत्ता, झालर, शहनाई, तुरई, वरह, ढोलक आदि

नाना प्रकार के प्राचीन वादित्र एवं वर्तमान के कर्णप्रिय वादित्र, ये सब कर्ण-इन्द्रिय के विषय हैं और ये सभी आत्म-घातक हैं।

355. कर्णेन्द्रिय-विषय में लिप्त मृग-सर्प आदि प्राणी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि पर के बंधन में पड़कर अपनी स्वतंत्रता का नाश कर लेते हैं और कभी कभी तो प्राणों से ही हाथ धो लेते हैं।

356. संगीत-बाजों में निमग्न व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भूलकर सुबह से शाम तक अन्य कार्य पर दृष्टि ही नहीं ले जाता, परिणाम यह होता है कि सारी व्यवस्थाएँ बिगड़ने लगती हैं, इसलिए अपने जीवन को व्यवस्थित बनाकर चलना चाहिए।

357. वादित्रों में मत जाओ, बाजों की ध्वनियों की अपेक्षा भगवान् की दिव्य-ध्वनि और तत्त्वोपदेश सुनो।

358. यदि वादित्रों में ही समय पूर्ण कर दिया, तो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थ कब करेगा? सामान्य से ग्रहस्थ कदाचित् वादित्र श्रवण कर ले, परन्तु वादित्र सुनने की आदत या व्यसन नहीं होना चाहिए।

359. प्रज्ञ-पुरुष अपने जीवन में उन्हीं कार्यों में पुरुषार्थ करते हैं जिनसे दुःख और संसार से मुक्ति हो और परमात्म-सुख प्राप्त हो।

360. गान-श्रवण, नृत्य-दर्शन एवं वादित्र-श्रवण में आसक्त हुआ कौन पुरुष अपने प्राण, धन और मान-मर्यादा को नष्ट नहीं करता? अर्थात् सभी नष्ट करते हैं। विवेकी को उक्त गान-श्रवणादि में आसक्त नहीं होना चाहिए।

361. प्रज्ञ-पुरुष प्रतिक्षण उस बात पर ध्यान रखते हैं जिसमें देश-राष्ट्र-समाज-धर्म हित के साथ स्वहित निहित हो।

362. प्रज्ञ-जन वही सुनते हैं, वही देखते हैं, उसी पर चिंतन करते हैं; जो आत्म-कल्याण में सहायक हो।

363. सदय-हृदयीजन प्रयोजन के वश ही गमन-आगमन करते हैं, व्यर्थ में न स्वयं घूमते हैं न अन्य को ही घुमाते हैं, साथ ही व्यर्थ में निष्प्रयोजन घूमने वालों की अनुमोदना भी नहीं करते।

364. विशिष्ट महापुरुष उच्च जाति के देवों तुल्य जीवन जीते हैं।

364. देश, राष्ट्र, धर्म, समाज एवं स्वात्महितान्वेषी-जन, प्रतिपल अपना विचार एवं जीवन को उत्कर्षपूर्ण देखना चाहते हैं। हर कर्म उनका सद्-विचार, सद्सोच, सद्कार्य के लिए ही होता है।

365. व्यर्थ का विचार, व्यर्थ का आचार, व्यर्थ का भ्रमण उनके हृदय-कोष में होता ही नहीं।

366. वे जीव विरले ही होते हैं, जो कि आत्मोत्कर्ष के साथ विश्वोत्कर्ष की दृष्टि प्रदान कर सकें।

367. तीर्थंकर भगवन्तों ने स्व-पर हितार्थ सम्पूर्ण देशों में पर्यटन किया, पर व्यर्थ भ्रमण नहीं किया। उन्होंने विश्व के लिए 'सत्यार्थ-बोध' दिया।

368. संयमित भोजन, शुद्ध-शाकाहार वह भी तामसिकता रहित करें। शुद्ध विचार हों, पर ईर्ष्या रहित।

369. प्राणी हिंसा रहित स्व-पर कल्याणार्थ विहार करें, असम्यक्-कार्य हेतु व्यर्थ गमन न करें। पग-पग चलने का अर्थ निहित होना चाहिए।

370. प्रज्ञ पुरुष श्वास, समय और कदम तीनों की रक्षा करते हैं। न श्वास व्यर्थ लेते हैं, न समय को व्यर्थ निकालते हैं और न अपने कदमों को पृथ्वी पर व्यर्थ रखते हैं।

371. शारीरिक शुर्द्धि के लिए, भोजन के लिए, श्री जिनदेव दर्शन, तीर्थ-वन्दना के लिए, गुरु वन्दना के लिए, आगमबोध हेतु ही गमन करते हैं, व्यर्थ में संसार-वृद्धि हेतु कोई कार्य नहीं करते।

372. प्रज्ञ कदम रखने के पूर्व सोचते हैं, वहीं बुद्धिहीन कार्य करने के उपरान्त पश्चात्ताप करता है, यही दोनों में अन्तर है।

373. व्यर्थ में स्वयं घूमना, दूसरे को घुमाना, ये प्रमादचर्या है, अनर्थदण्ड है। निष्प्रयोजन किया गया कार्य **'अनर्थदण्ड'** कहलाता है।

374. जहाँ धर्म-यश वर्धमान होता हो वहीं सज्जनों को गमन करना चाहिए। जिस क्षेत्र में धर्म-यश-धन का नाश हो रहा हो वहाँ पर व्यर्थ में नहीं जाना चाहिए।

375. कर्तव्यनिष्ठ, विवेकयुक्त सद्-पुरुष बिना प्रयोजन व आमंत्रण के अलावा किसी के यहाँ पर नहीं जाते हैं।

376. पर घर में बिना बुलाए जाने से सम्मान तो मिलता ही नहीं, अपितु अपमान ही मिलता है, जो हृदय में शल्य खड़ी कर देता है और शल्य का जीवन दुःखमय ही होता है।

377. संसार में पतन के अनेक कारणों में ईर्ष्या बहुत बड़ा कारण है। पर की विभूति, लक्ष्मी, उत्थान सहन न कर उससे द्वेष-बुद्धि रखना, अन्दर-ही-अन्दर जलना, झुलसना **ईर्ष्या** है।

378. हृदय से किसी की भी, किसी भी क्षेत्र में होती हुई उन्नति को सहन न करने की असमर्थता **ईर्ष्या** है।

379. ईर्ष्यालु को न दिन में शान्ति मिलती, न रात्रि में। चन्द्रमा की चाँदनी, चन्दन के छींटे, शीतल-सुवासित जल भी उसे शान्ति नहीं दे पाता है।

380. कदाचित् गंगा जलादि शरीर को ठंडा कर सकते हैं, पर अन्तरंग की दाह-ज्वाला पानी आदि द्रव्यों से शान्त नहीं हो सकती है। विश्व में जितने भी देशयुद्ध, राष्ट्रयुद्ध, गृहयुद्ध हुए हैं उनमें सर्वप्रथम, प्रधान, मुख्यभूमिका किसी की रही है, उसका नाम **ईर्ष्या** है।

381. चाहे शीतयुद्ध हो, चाहे मूकयुद्ध हो, चाहे जलयुद्ध हो, चाहे मल्लयुद्ध हो, चाहे दृष्टियुद्ध, ये सभी एकमात्र परस्पर ईर्ष्या के कारण ही हुए हैं।

382. जिसके अन्दर ईर्ष्या के कदम दृढ़ हो चुके हैं वह कभी किसी की अच्छाई नहीं देख पाता; गुण-ग्राहकता का अलौकिक आनन्द उसे कभी नहीं आता है।

383. अपनों के अन्दर ही विशेष-गुण प्रकट हो रहे हों अथवा हो गए हों तो उन्हें भी ईर्ष्यालु सुदृष्टि से देखने का साहस नहीं कर पाता है।

384. पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य के मध्य जब ईर्ष्या की ज्वाला जलती है तो अनेकों की आस्थाओं की पुष्प-मालाएँ मुरझा जाती हैं।

385. कम-से-कम पिता को पुत्र की, पुत्र को पिता की, गुरु को शिष्य की,शिष्य को गुरु की, पति को पत्नी की, पत्नी को अपने पति की, मित्र को मित्र की, जाति-भाई को जाति-भाई की, देश को देशवासी की, राष्ट्र को राष्ट्रवादी की, स्वभाषा-भाषी को स्वभाषा-भाषी की, सहधर्मी को सहधर्मी की उन्नति पर हर्षित होने की क्षमता तो आना ही चाहिए।

386. जैसे एक सच्ची माँ अपने बेटे की उन्नति पर प्रमुदित होती है, ऐसे ही प्रत्येक जीव के अंतरंग-बहिरंग विकास पर गुणग्राही पुरुष स-वात्सल्य भाव से प्रसन्न होता है।

387. वे ही इस भू-लोक में श्रेष्ठजन हैं जो पर के विकास में स्व-विकास देखते हैं।

388. श्रेष्ठ-ज्येष्ठ जन, राजनेता, धर्मनेता देश के विकास में स्व का विकास देखता है, धर्म के विकास में स्वधर्म का विकास देखता है। ऐसा राजनेता ही राज्य चलाने का अधिकारी है।

389. जो व्यक्ति मात्र स्वपेट, स्व-पेटी देखता है, पर की वृद्धि पर नेत्रहीन-दीन व

आक्रोश-पूर्ण करता है, ऐसा व्यक्ति, राजनेता एवं राजा किसी भी संस्था के मुख्य पद को सँभालने के लिए अयोग्य है।

390. सम्यक्-उत्थान के लिए अयोग्य पुरुष को अपना अधिकारी व श्रद्धेय नहीं चुनना चाहिए।

391. अयोग्य के न स्वामी बनो और न ही सेवक, क्योंकि अयोग्य का सहवास जीवन में कष्ट देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे पाएगा।

392. गुण-ग्राही, गुणवान, गुण-सम्पन्न दाता के साथ निवास करोगे तो जीवन सुवासित हो जाएगा।

393. पल-पल में श्रेष्ठजनों का सानिध्य, गुरुजनों का आशीष, विद्वानों की विद्या का बोध ईर्ष्या-रहित व्यक्ति को ही प्राप्त होता है।

394. वहीं ईर्ष्यालु की तो पत्नी भी छोड़कर चली जाती है, फिर अन्य की क्या बात करें। श्रेष्ठ यही है कि विश्वास के साथ रहना सीखो, यही आत्मोन्नति का मार्ग है।

395. सद्-धर्म के ईर्ष्यालुओं ने त्यागी-साधु-महात्माओं पर घोर-घोर उपसर्ग किए, मंदिर-मूर्तिओं को नष्ट किया तथा परिवर्तन भी किया, सद्-शास्त्रों की होली भी जलाई, बहू-बेटियों के शील नष्ट किए।

396. कौरव-पाण्डव युद्ध में किसकी भूमिका है? ईर्ष्या-भाव की। नारायण-प्रतिनारायण का युद्ध भी ईर्ष्या से ही प्रारम्भ होता है।

397. ज्ञानी जनों को चाहिए कि जलने के पहले जलना छोड़ें; यदि जलने के पूर्व जलना नहीं छोड़ पाए तो भव-भव घोर दुःख में जायेंगे।

398. अपयश, अकीर्ति, लोक-अविनय, दुर्गतियों के दुःख, ये सब ईर्ष्या का ही फल समझो।

399. साधु एवं सम्राट् को कभी भी अपना चित्त ईर्ष्या की आग में नहीं जलाना चाहिए, क्योंकि यह सर्वथा घातक ही है।

400. ओहो! दुर्जन, कामांध विषयासक्त पापों से कितना निडर-निर्भीक होता है जिसे अपनी दुर्गति का भी भय नहीं है, उसे लोक-अपयश का भी डर समाप्त है और रावण जैसे नरक जाने की तैयारी है।

401. ओहो! कितना बड़ा दुःसाहस? जाति, कुल, वंश, धर्म, नगर, सम्प्रदाय की अपकीर्ति का भी जिसे कोई विकल्प नहीं है, उसे मात्र अपनी वासना, भोगवृत्ति

से ही प्रयोजन है। ऐसा नराधम पृथ्वी पर मात्र भार ही है। साहस-व्यसन पूर्ण हेय ही है।

402. धनहीन-गृहस्थ पशुओं जैसे अपमान एवं दरिद्रता के दुःखों को भोगता है। धनहीन-गृहस्थ की आत्म-पीड़ा को वही जानता है।

403. प्रज्ञ-जनों को आय-व्यय पर विवेकपूर्वक विचार करना चाहिए। जो गृहस्थ आय-व्यय में विचार कुशल नहीं है उसका जीवन दुःख के साथ ही निकलता है, इसलिए आय को देखकर ही व्यय करना चाहिए।

404. अर्थशास्त्र के बोध के लिए, दिगम्बर जैन मुनि के कमण्डलु को देखो। कमण्डलु के जल-ग्रहण का मुख बड़ा होता है और जल को निकालने की टोंटी छोटी होती है। इसी प्रकार से अर्थ-संग्रह अधिक हो और व्यय उससे कम हो। अर्थ का संग्रह करना आवश्यक है।

405. परिग्रह-परिमाण व्रत के साथ असीम-अर्थ भी अनर्थकारी हो जाता है। अर्थवान के साथ दयावान तथा दानवान भी होना चाहिए।

406. पुण्यात्मा, धनवानों के द्वारा ही तो तीर्थस्थान एवं साधु-महात्माओं की धर्म-साधना की रक्षा होती है।

407. पुण्यद्रव्य-सम्पन्न अर्थवान जिस देश, समाज, राष्ट्र में निवास करते हैं वहाँ के निवासी सुख से निवास करते हैं।

408. जहाँ श्रीशून्य, पुण्य-क्षीण लोग निवास करते हैं वहाँ किस द्वार पर भिखारी को भीख मिलेगी? किस निर्धन को अर्थ मिलेगा?

409. इसलिए जहाँ पर राजा, सेठ, वैद्य, विद्वान्, धर्मात्मा, साधु-पुरुषों का विचरण हो तथा धन-धान्य, जल पूर्ण हो वहीं आर्यजनों को निवास करना चाहिए। उक्त सामग्रियों में से कोई यदि कम हो तो स्थान का त्याग कर अन्यत्र वास करना चाहिए।

410. धन, धर्मात्मा, भक्ष्य-भोजी जीवों से राष्ट्र शोभायमान होता है, पर इससे भिन्न जनों से राष्ट्र भारभूत होता है। कुछ लोग राष्ट्र को चलाते हैं, कुछ लोगों को राष्ट्र ही चलाता है।

411. ऐसा जीवन बनाओ कि राष्ट्र के लिए भारभूत न हो हमारा जीवन, अपितु राष्ट्र के लिए उपहार स्वरूप हो।

412. पल-पल राष्ट्र एवं धर्म गद्‌गद् रहे आपके नाम पर। जिनके नाम से राष्ट्र

गौरवान्वित हो ऐसे नर सामान्य नहीं होते, अपितु वे लोग विशिष्ट नरोत्तम संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

413. पूर्वकृत दान, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति मायाचारी रहित वात्सल्य-भावना से जो पुण्य का आस्रव-बंध किया था, उस पूर्वकृत पुण्योदय से वर्तमान में अर्थोपलब्धि हुई है, उसका सम्यक्-उपभोग पूर्वक व्यय होना चाहिए।

414. असमीचीन-वृत्ति से जो धन का व्यय करता है वह कुबेर जैसा भी क्यों न हो तब भी उसे अल्पकाल में ही धन-हीनता, दरिद्रता का दर्शन करना पड़ता है, अतः अर्थ के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए।

415. विवेकपूर्वक वित्त का व्यय करो भविष्य में चित्त खिन्न न हो। धर्म के साथ धन का उपयोग करना सीखो।

416. अर्थ-दूषण व्यसन से आत्मरक्षा करना सीखो। जो बहुत कमाने पर भी धनहीन हैं, ऐसे पुण्यहीन और विवेकहीनों से दूरी बनाकर जीना, पर उन्हें देखकर शिक्षा अवश्य लेना।

417. जो धनिक होकर भी किसी का भला न कर सके, वही तो यथार्थ में धनहीन है।

418. अर्थ-दूषण व्यसनी जीव लोक में जीवन-हीनता के साथ कंगाली का जीवन जीते हैं।

419. जिन्हें धन-संग्रह करने का 'सत्यार्थ-बोध' नहीं है वे आय कम करते हैं और उसे भी अभक्ष्य-भोजन, अपेय-पेय, असेव्य-सेवन, सुरा-सुन्दरी के भोग में व्यर्थ ही गवाँ देते हैं।

420. जो कुक्षेत्रों, कुतीर्थों, कुपात्रों में धन व्यय करते हैं, वे **अर्थ-दूषण व्यसनी** हैं।

421. जो दुष्कर्मियों के मध्य अपने द्रव्य को लगा रहे हैं, भोग और भोजन से भिन्न जिन्हें अन्य कुछ नहीं दिखता वे धनपति भी कुछ ही दिनों में कंगाल हो जाते हैं।

422. अहो प्रज्ञात्मन्! अपात्र-कुपात्रों में, दुर्व्यसनों में, पंचेन्द्रियों के अमर्यादित सुख-भोगों में जीवन एवं धन दोनों का अपव्यय मत करो।

423. जीवन में धर्म एवं यश के साथ जीवित रहना है, तो संयमित जीवन जिओ।

424. धनवानों, विद्वानों, यशवानों के मध्य यशवान बनकर वे ही अर्थवान रह पाते हैं, जो सदा चारित्रवान रहते हैं।

425. मित्र! जीवन में कितनी भी विपत्ति आ जावे, परन्तु अपने निर्मल यश एवं चारित्र को कभी भी विपत्ति में नहीं डालना।

426. अर्थ-दूषण व्यसन मुक्त जीवन जीना, प्रसन्न-चित्त से सदा सद्पात्रों को दान करते रहना, दान भी स्व-शक्ति से ही करना, जिससे स्वयं एवं परिवार का जीवन आनंदपूर्ण बना रहे।

427. शासन वही कर सकता है; जिसका स्वयं का जीवन आत्मानुशासित हो। जो स्वयं ही आत्मानुशासित नहीं है उसका स्वयं के गृह में ही अनुशासन नहीं चलता, फिर देश व राज्य में क्या चलेगा?

428. जैसा तुम स्वयं के लिए चाहते हो वैसा दूसरों के लिए भी करना सीखो, शत्रु के प्रति भी सदय-भाव रखो। समय परिवर्तनभूत होता है, तृण भी समय पर काम आता है घर में पड़ा मलिन वस्त्र भी घर में पोंछा के काम में आता है। घूरे का ढेर भी खेत में खाद के काम में आता है, इसलिए किसी को सर्वथा हेय-दृष्टि से मत देखो।

429. जो वस्तु जैसी है उसे वैसी अवश्य देखो। काँटा भी समय पड़ने पर काम में आता है; जब पैर में काँटा चुभ जाता है तब वृक्ष का काँटा ही उस काँटे को निकालता है इसका तात्पर्य काँटे को पेटी या स्ववस्त्रों में नहीं रखना, पर उसका भी अपना महत्त्व है इतना समझना।

430. किसी का वध मत करो। निष्प्रयोजन, निष्कारण न किसी का वध करो; न बदनाम।

431. अहिंसा परमब्रह्म का आलम्बन लो। करुणाशील के घर विभूति स्वयं चलकर आती है, हिंसक-क्रूर हत्यारे के घर की विभूति, सुख, शान्ति और आनन्द देखते-देखते ही क्षण मात्र में विलीन हो जाता है।

432. दुराचारियों के प्रति भी आप अप्रशस्त मत सोचो, उन्हें तो उनके पापों का फल स्वयं ही मिलेगा। क्रूर-से-क्रूर शासकों का भी अंत हुआ है, फिर हम क्यों किसी का बुरा सोचकर अपना पुण्य क्षीण करें?

433. अति की इति नियत है, इसकी नियतता को टालने में किसी की गति नहीं है।

434. वैभव एवं अधिकार पाकर अहंकार में मत आओ। निरपराध जीवों को मत सताओ।

435. वनस्पति, अंकुरों को नष्ट करने वाले नष्ट हो जाते हैं, फिर मानवों पर अत्याचार करने वाले कैसे बच सकते हैं?

436. शासक को निर्दोष व्यक्ति पर क्रूरता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। सामान्य प्रजाजनों को भी परस्पर में करुणा-भाव का व्यवहार रखना चाहिए।

437. एक बगीचे में नाना वृक्षों-फलों का समुदाय एक साथ होता है, तभी तो वह बगीचा कहलाता है।

438. एक-एक वृक्ष की उद्यान में अपनी एक कीमत है, इसी प्रकार एक-एक नागरिक की देश में कीमत है।

439. प्रत्येक व्यक्ति से देश की संख्या का परिमाण-प्रमाण का बोध होता है। मानव को मानव देखो, इतना ही नहीं, प्राणी-मात्र में भगवान्-आत्मा को देखो।

440. किसी को कष्ट मत दो, सभी जीवों को जीने का अधिकार है।

441. जीवों को जीने दो यह भी सबका कर्तव्य है। सभी को अधिकारों के साथ कर्तव्यों का भी समीचीन पालन करना चाहिए।

442. धिक्-धिक्-धिक् वे अधिकृत अधिकारी जो धन के पीछे दूसरों से दुर्व्यवहार करते हैं।

443. पर को पीड़ित करना भी भाव-हिंसा है।

444. अपने पद के अनुकूल व्यक्ति को स्व-पद के अनुसार अपने अधिकारों का उपयोग विवेक, दया, मानवता के साथ करना चाहिए।

445. अनुशासन का पालन दयार्द्र-भाव से कराया जाता है। सामने वाले की स्थिति का भी संज्ञान होना चाहिए।

446. प्रजा-जनता को सँभलने के लिए भी समय देना चाहिए। यदि प्रजा ही नष्ट हो जायेगी या स्वात्म-हत्या करेगी फिर राजा के राज्य की शोभा ही क्या?

447. यदि प्रजा का ध्यान नहीं रखा गया तो प्रजा संगठित होकर राजा के विनाश का ही निर्णय कर लेगी।

448. प्रजातंत्र की यह विशेषता है कि इसमें प्रजा अपने शासक का निर्धारण करती है।

449. शासक को प्रजा का पालन जननी जैसा करना चाहिए। माँ की डाँट में भी दुलार महसूस होता है।

450. किसी का वध करना समस्या का समाधान नहीं है।

451. शासन द्वारा मृत्यु-दण्ड भी किसी विशेष कारण का बोध कराकर दिया जाता है।

452. सम्राट् का धर्म है वह जैनाचार्यों की भाँति सर्वप्रथम अपराध का बोध करा दे। यदि अपराध बोध होने पर अपराधी पुनः वही अपराध नहीं करता है, तो यही उसका प्रायश्चित्त हो गया।

453. प्रायश्चित्त का उद्देश्य शिष्य को पीड़ित करना नहीं है, अपितु दोषों से दूर करके आगमविधि से तपस्या कराना है।

454. अपराध बोध कराने पर भी यदि वह पुनः-पुनः अपराध करता है तो उस अपराधी को कठोर प्रायश्चित्त देते हैं। फिर भी न सुधरे तो मूल दीक्षा ही छेद कर देते हैं, शिष्य की शिष्यता का ही त्याग करा देते हैं।

455. यदि ऐसा नहीं किया तो श्रीसंघ का ही नाश हो जाएगा; सम्पूर्ण शिष्यगण दोष करने लगेंगे और अनुशासन-बद्धता नष्ट हो जाएगी।

456. शासक का उद्देश्य किसी नागरिक को मारना नहीं होना चाहिए। सर्व-प्रथम अपराधी को सुधार का उद्देश्य होना चाहिए।

457. अपराधी स्वयं ही बोध होने पर अपराध का त्याग कर देता है, तो फिर अन्य-दण्ड की आवश्यकता नहीं है।

458. अल्प-अपराध पर मृत्युदण्ड अथवा निरपराधी को मृत्युदण्ड देना तो पूर्ण अनुचित ही है।

459. नेता, राजा के नाम के आगे प्रजा-पालक जुड़ा रहता है, इसलिए शासक को प्रजा पालक होना चाहिए, प्रजा-नाशक नहीं।

460. अनुशासन बना रहे, इसलिए अल्पोचित दण्ड देकर प्रजा को अपराध मुक्त करें तथा शीघ्र अकारण वध-व्यसन की आदत का त्याग करें।

461. हिंसा कभी भी पुण्य का कारण नहीं होती है; हिंसा पाप ही है, पाप ही थी, पाप ही रहेगी।

462. जो हिंसा करता है, करता था, करेगा, वह भी पापी है, पापी था, पापी ही रहेगा।

463. जो सभी प्रकार के अपराध और हिंसा कर्म का त्याग कर श्रेष्ठ कार्य करता है, पाप कर्मों का त्याग कर प्रायश्चित्त को कर लेता है, तब उस जीव का कल्याण भी हो जाता है।

464. नैतिक-पुरुष अहंकार वश, क्रोध वश, निष्प्रयोजन घास का अंकुर भी नष्ट न करें, फिर मनुष्य के विषय में तो कहना ही क्या?

465. व्यसन-मुक्त राजा ही प्रजा को सुख दे सकता है। जो व्यसन में डूबा है वह प्रजा

को क्या सुखी कर पाएगा? राज्य-व्यवस्था मर्यादा के साथ होनी चाहिए, बिना मर्यादा के राज्य नहीं चल सकता, राज्य को नीति के साथ ही चलाया जाता है।

466. अनीतिपूर्वक जो राज्य करना चाहते हैं, वे शीघ्र ही पतन को प्राप्त होंगे।

467. अधिकार पाकर जो कर्तव्य का ध्यान नहीं रख पाता उसका विनाश नियत है, उसका पतन परमात्मा भी नहीं बचा पाएँगे फिर अन्य की क्या बात है?

468. बड़े-बड़े स्व-सुखार्थी क्रूर राजे-महाराजे भी हुए, उनका अन्त यश के अन्त के साथ हुआ।

469. साधु-स्वभावी सम्राट् धर्म-यश के साथ सदय-भाव से रहते हैं, वे जन्म-जन्म तक जीवित रहते हैं।

470. प्रबल-पुण्यात्मा जीव को कोई मारना भी चाहे तो नहीं मार सकता है।

471. पर-धन हरण प्राण-हरण तुल्य है।

472. द्रव्य कमाने की दृष्टि से लोग नाना माया-भाव बनाते हैं, परन्तु पुण्य-क्षीणता में मायाचार चल नहीं पाता, फलतः वह कहीं न कहीं तो खुल ही जाता है।

473. अग्नि को रूई में क्या कोई सुरक्षित रख सका? अग्नि रूई में गुप्त रह सकती है क्या? उसी प्रकार से छल-बुद्धि से संगृहीत धन भी स्व-ग्रह में नहीं ठहर सकता, इसलिए सद्वृत्ति से सम्पत्ति का अर्जन करना चाहिए, पर को पीड़ा देकर नहीं।

474. वे लोग उभय लोक में पतित हैं जो अपने जीवन के लिए पर का जीवन दुःखी कर रहे हैं।

475. साधु-पुरुष स्व के सुख एवं दुःख जैसा पर का सुख-दुःख भी देखते हैं।

476. वे लोग निकृष्ट हैं; जो सामान्य जनों से लेकर राजकीय वस्तुओं का भी हरण कर लेते हैं।

478. जो प्रतिष्ठित-पदों पर आसीन प्रतिष्ठित-अधिकारी, कर्मचारी, नेतागण, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, मंत्री, सांसद, विधायक, शिक्षकादि राष्ट्र-सेवा में तत्पर हैं; वे सभी राष्ट्र-उन्नति के अंग हैं।

479. सभी के श्रेष्ठ-कार्यों से ही एक श्रेष्ठ-राष्ट्र का उदय होता है।

480. सभी नागरिकों का उद्देश्य एकमात्र राष्ट्र-विकास ही होना चाहिए। राष्ट्र-विकास के नारे के साथ-साथ राष्ट्र-विकास के कार्य भी होना चाहिए।

481. देश की सम्पत्ति का उपयोग देश-हित में होना चाहिए। राष्ट्र का अनधिकृत तृण भोग भी नहीं होना चाहिए।

482. जो व्यक्ति राष्ट्रीय-सम्पदा का उपभोग मात्र स्वहित में लगाता है वह राष्ट्र-द्रोही, तस्कर है।

483. सम्राट् को प्रजा से उतना ही कर (टैक्स) लेना चाहिए जिससे वह स्वयं भी जी सके और पुनः कर देने योग्य बचे और बिना छल के कर प्रदान करता रहे।

484. अधिक कर लगाने से प्रजा शासक से उदास हो जाती है। प्रजा की उदासता राज्य-क्षय का कारण है।

485. स्वदेश शासक की अनुरागी प्रजा जहाँ रहती है वहाँ सदा सुख एवं शान्ति रहती है। राजा तथा प्रजा की एकता राज्योन्नति का प्रबल हेतु है।

486. वह राजा धन्यवाद का पात्र है जिसकी प्रजा राजा को बहुमान-सम्मान के साथ आदर-सत्कार करे।

487. जिस प्रकार वृक्ष का मूलोच्छेद करने से उससे फल प्राप्ति केवल उसी समय अंतिम एक बार ही होती है, उसी प्रकार जो राज्य अन्याय के द्वारा प्रजा का सर्वस्व-अपहरण करता है उसे उसी समय केवल एक बार ही धन मिलता है, भविष्य में नहीं।

488. प्रजा की सम्पत्ति निश्चय से राजा का विशाल खजाना है, इसलिए उसे न्यायपूर्वक उपयोग करना चाहिए। अनुकूल उपाय से; अपराध प्रतिकूल आर्थिक-दण्डादि द्वारा नहीं।

489. जैसे स्वयं के खजाने की रक्षा करते हैं वैसे ही प्रजा के धन की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है, क्योंकि आश्यकता पड़ने पर राज्य में शत्रुकृत प्राकृत-रोग या महामारी आदि विपत्ति के आने पर राज्य सेठों व अन्य धनिकों द्वारा दान देकर ही राज्य-रक्षा होती है। जैन सेठ भामाशाह ने विपत्ति-काल में अपना द्रव्य न्यौछावर कर राष्ट्र-रक्षा की, इसलिए प्रजा के द्रव्य का भी संरक्षण होना चाहिए।

490. संसार में सबसे अधिक मधुर (मीठा) न मिश्री है, न अमृत। लोक में सर्व-लोकानन्द प्रदान करने वाली कोई वस्तु है तो वह है—**प्रिय हितकारी मधुर वचन।**

491. किसी को आप कितना ही मीठा खिलाओ, परन्तु भाषा-कटुक बोलते हैं, तो उस मिठाई की कोई कीमत नहीं हैं।

492. प्राणिमात्र के प्रति मधुर-मृदु-गंभीर, आत्महितकारी मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाले वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

493. कटुक, कर्कश-कठोर-वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि मधुर-वाणी से काला-नाग भी अपने वश में हो जाता है, पर कर्कश-कठोर-सावद्य, मर्म भेदी शब्दों से तो अपने सगे-सम्बन्धी लोग भी शत्रु हो जाते हैं।

494. कटु-भाषी पिता के पुत्र भी, पिता को छोड़कर चले जाते हैं।

495. जगति पर सबका प्रेम-पात्र बनना है तो सत्य, सरल, प्रांजल, मधुर-भाषण बोलना सीखो वह भी मायाचारी रहित। स्वार्थ-सिद्धि हेतु नहीं, न ख्याति हेतु, अपितु स्वाभाविक प्राकृत-रूप से भाषा में माधुर्य का रस भर दो।

496. श्रेष्ठ-साधक, त्यागी, विद्वान्, धनपति, राज्याधिकारी तथा शासक की भाषा पूर्ण सधी हुई होनी चाहिए।

497. व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति भाषा से ही तो होती है।

498. ज्ञानी-अज्ञानी, विवेकी-अविवेकी, शठ (मूर्ख) विद्वान्, राजा-प्रजा, साधु-असाधु, कर्मचारी-अधिकारी, शहरी-ग्रामीण, शिक्षित-अनपढ़, कुलीन-अकुलीन की पहचान शरीर-वर्ण से नहीं, अपितु श्रीमुख से विनर्गित वाणी से होती है।

499. विनयशील की भाषा से विनय का स्रोत टपकते दृष्टिगोचर होता है। वहीं अविनय दोष से जिनका चित्त दूषित है उनकी भाषा से अविनय का विष रिसता है।

500. व्यक्ति का जब कर्कश-भाषण व्यसन बन जाता है तब लोग उससे धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। समझदार लोग जैसे क्रूर-प्राणियों से अपनी प्राण रक्षा करते हैं, ठीक वैसे ही कर्कश भाषी से आत्मरक्षा करते हैं।

501. भाषा की कठोरता मात्र कर्ण-पटल का ही घात नहीं करती, अपितु अंतःकरण को भी विदीर्ण कर देती है। कठोर भाषा आत्म-विशुद्धि के लिए तो काल-कूट जहर है।

502. समझदार विवेकी-जन नासमझ उद्दण्डों से व्यर्थ-वार्ता कर अपना समय नष्ट नहीं करते हैं। वे मौन रहना ही उचित समझते हैं।

503. प्रज्ञ-जन व्यर्थ की शब्दावली में उलझकर अपने अमूल्य-जीवन के क्षणों को नष्ट नहीं करते हैं।

504. बोलो वही जो वात्सल्य, प्रेम-भाव को वर्धमान करे। बिखरी समाज, टूटे-हृदय परस्पर जुड़ जाएँ, आप्त-आगम-तपोभृतों पर आस्था बने, देश-देश, राष्ट्र-राष्ट्र

में सद्भाव के भाव जगें, युद्ध की जगह सहयोग की भावना बने, मानव में मानवता का संचार हो, पशुवृत्ति का अभाव हो, पिता-पुत्रादि पारिवारिक संबन्धों में मधुरता का प्रवाह हो और परस्पर में कटुता का जहर न घुले।

505. भाषा ऐसी बोलो जिससे शत्रु वर्ग भी मैत्री की भावना से भर जावे, सम्प्रदाय का सम्प्रदाय के प्रति सद्भाव बने, कोई किसी पर कुदृष्टिपात न करे, आपकी सम्यक्-भाषा सदी का इतिहास बने।

505. नीतिकारों ने कहा है—''नहीं होता अन्य कोई मधुर-रस; वचनों की मधुरता के आगे''।

506. पर को भी अपना बनाने का मंत्र है—मधुर-वचन और अपनों को भी पर-बनाने का तन्त्र है—कर्कश वचन, ये दोनों ही मानव के पास हैं।

507. जीवन का सार व्यक्ति की वाणी, भाव पर टिका है। जिसका भाव व भाषा पर नियंत्रण है वह साधु-पुरुष है और जिसका भाव व भाषा पर कोई नियंत्रण नहीं, वह मानव के आकार में तिर्यञ्च है।

508. महानता-साधुता बाजारों में नहीं मिलती, वह तो स्वयं से ही अपने ही स्वभाव में प्रकट होती है।

509. अधूरा-ज्ञानी हठधर्मी कर्कश-भाषी स्व-राज्य का ही पतन कर लेता है। राज्य का राजा ऐसा नहीं होना चाहिए।

510. जहाँ कर्कश भाषी हठधर्मी स्वामी हो उस स्थान का सज्जनों को त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह कर्कशी कभी भी हठता में आकर प्रजा का नाश कर सकता है।

511. मित्र हो या पुत्र, पिता हो या स्वामी हठधर्मी का सहवास मात्र हीन-भावना पराधीनता का ही वेदन कराएगी इससे आत्मनिर्भरता, आत्म-स्वतंत्रता का ह्रास होगा, स्वात्म-विशुद्धि का घात होगा, इसलिए कर्कश-भाषी एवं हठधर्मी दोनों से ही शीघ्रातिशीघ्र भिन्नत्व को प्राप्त करो।

512. मर्म-भेदी, हृदय-विदारक, कर्कश वचन शस्त्र के घाव से ही अधिक कष्टदायक होते हैं।

513. शस्त्र का घाव तो समय पाकर भर जाता है, परन्तु शस्त्र से अधिक घातक कठोर-कर्कश-दुर्वचन होता है, जिसका घाव भवों-भवों तक नहीं भरता है।

514. किसी भी स्थिति में कटु-कर्कश वचन नहीं बोलना चाहिए।

515. श्रेष्ठ-महान् वे पुरुष हैं जो न तो किसी पर शस्त्र की चोट मारते हैं और न ही कर्कश-वचनों का प्रहार करते हैं।

516. कर्कश वचन रूपी बाण महा-भयंकर होते हैं, क्योंकि वे दूसरों के मर्म-स्थलों में प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुँचाते हैं, जिनसे पीड़ित पुरुष दिन-रात शोकाकुल रहता है।

517. शाोकाकुल दिन-रात आत्म-पीड़ा से पीड़ित हीन-भावना में जीता है और नहीं सँभाल पाया स्वयं को तो आत्महत्या भी कर लेता है।

518. अहो अहिंसको! इस बात पर ध्यान दो, आपकी कर्कश-भाषा किसी की हत्या का कारण बन सकती है, उसका पूरा पाप तुम्हें मिलेगा।

519. कुलीन को नीच कहना, कुल-कलंकी कहना, इत्यादि भाषा मर्म-भेदी है, कर्कश है।

520. वयोवृद्ध को देखकर आक्रोशित होकर बोलना, तेरे बाल श्वेत हो गए हैं, यह भी मर्म-भेदी कर्कश वचन है।

520. सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख, निर्दोष को सदोषी कहना वाक्-पारुष्य है।

522. नैतिक-मनुष्य को अपनी स्त्री-पुत्र, माता-पिता, भृत्यों को कर्कश वचनों का त्यागपूर्वक हित-मित-प्रिय वचन बोलते हुए विनयशील बनना चाहिए।

523. प्रजा में अन्याय-अनीति का संचार न हो, इसलिए राज-दण्ड दिया जाता है, दण्ड में भी हित निहित रहता है।

524. एक के अपराध से प्रेरित होकर अनेकों में अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। दण्ड कोई अन्याय नहीं है।

525. यदि किसी ने अपराध किया है तो उचित न्याय के साथ उसे दण्ड दिया जाए, जिससे भविष्य में वह अपराधी वृत्ति न करे, अतः अपराधी के सुधार हेतु दण्ड-व्यवस्था है।

526. यदि शासक दण्ड नहीं देगा तो लोक में अनर्थ हो जाएगा, कोई किसी से भयभीत नहीं होगा और स्वेच्छाचार वृत्ति प्रारम्भ हो जायेगी।

527. सबल निर्बल को जीने नहीं देगा। पृथ्वी मानवीयता से शून्य हो जाएगी, धनिक ही मात्र सुख-भोगी होंगे, शेष लोग उनके सेवक बनकर ही रहेंगे।

528. पृथ्वी-पति के बिना पृथ्वी पर सामान्य जीवों का जीना कठिन हो जाएगा, इसलिए राजकीय-दण्ड अनिवार्य है।

529. ओहो! जब राजा/शासक ही अन्याय-पूर्वक दण्ड-नीति का प्रयोग करे, तो वह शासक भी दण्ड का पात्र है।

530. राजा को अपनी दण्ड-नीति धर्म-नीति व न्याय-नीति के आश्रयपूर्वक लगानी चाहिए।

531. श्रेष्ठ राष्ट्र के राजा के द्वारा परिस्थिति देखकर ही दण्ड-नीति का प्रयोग करना चाहिए। कहीं निरपराधी को दण्ड न हो जाए और अपराधी दण्ड से छूट न जाए।

532. दण्ड नहीं दिया तो राज्य नष्ट हो जाएगा और अन्याय पूर्वक दण्ड दिया तो तब भी राज्य नष्ट हो जाएगा।

533. सर्वप्रथम अपराधी की बात भी सुनना चाहिए, एकाएक दण्ड की घोषणा न की जाए।

534. क्रूर एवं अन्यायपूर्वक दण्ड देने वाले शासक का नाश सुनिश्चित है। अन्याय से किसी का वध करना, जेल में बंद करना, सम्पूर्ण-धन अपहरण करना, जीविका नष्ट करना '**दण्ड-पारुष्य**' है।

31

सत्यार्थ-सूत्र

सदाचार

1. उच्च विचार व आचार व्यक्ति को महान् बनाते हैं।
2. उच्च-आचार, सदाचार, सद्-आचरण व्यक्ति की कुलीनता का परिचय है।
3. सदाचारी लोग अपना परिचय मुख के शब्दों से ही नहीं, अपितु समीचीन-आचरण से ही दे देते हैं। वे सत्य बोलने के साथ-साथ सत्य जीवन भी जीते हैं।
4. सदाचार व्यक्ति के व्यक्तित्व का सार है। सदाचारी व्यक्ति सर्वत्र विश्वास को प्राप्त होता है।
5. सदाचार लोक में सर्वत्र सम्मान को प्राप्त है, अखिल-विश्व सदाचारी की चरण बलिहारी है।
6. सम्पूर्ण विश्व की सम्पदा का लाभ हो, फिर भी अपने सदाचार का विक्रय नहीं करना चाहिए।
7. लोभ-कषाय सदाचार की शत्रु है।
8. सद्-आचार, सद्-विचार तभी तक सुरक्षित हैं, जब-तक व्यक्ति लोभ कषाय से अप्रभावित है। लोभ से प्रभावित होते ही सर्वगुण समाप्त होने लगते हैं।
9. अंतरंग-मूर्च्छा सदाचार को मूर्च्छित कर देती है।
10. दृढ़ता स्वकार्य सिद्धि का मूल-मंत्र है, इसलिए स्व श्रेष्ठ-कार्य पर दृढ़ता रखना चाहिए।
11. अच्छे कार्य पर कठिनाईयों के आने पर विचलित होना दृढ़-धर्मियों का कार्य नहीं।
12. अपने श्रेष्ठ कार्य से वे ही विमुख होते हैं, जिन्हें स्वकार्य तथा स्वयं पर विश्वास नहीं है।
13. जिसे अपने बल-वीर्य-विज्ञता का स्व-विश्वास नहीं वह जीवन में कोई पुरुषार्थ-सिद्ध कार्य को सिद्ध नहीं कर पाएगा।

14. कुछ करना है तो विश्वास करो, आत्मविश्वास व्यक्ति को आत्म-निर्भर बनाता है।
15. जिसके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी है, वे परावलम्बी जीवन जीते हैं।
16. वे हर समय पर के मुख की ओर ही देखते हैं, क्योंकि उन्हें स्वयं की क्षमता का ज्ञान ही नहीं होता है और न ही स्वात्म-विश्वास।
17. जो व्यक्ति परकीय-कृत कार्यों की सदा ही स्वयंकृत कार्य जैसी प्रशंसा करते रहते हैं, वह उनकी मूर्खता की परिचायक है।
18. जिनकी कार्य करने की क्षमता नहीं है, वे अकुशल हैं, वे पर-प्रशंसा से ही संतुष्ट होते हैं।
19. जब कठिन-कार्य में स्वयं की प्रज्ञा नहीं चलती तब परकीय-प्रज्ञा का प्रशंसक बनना पड़ता है, यह लोक-रीति है।
20. दुर्जनों को पर की प्रशंसा तो दुर्लभ है, पर की निन्दा में ही जीव आनन्द मानता है।
21. प्रशंसनीय कार्य की प्रशंसा करना अच्छी बात तो है, परन्तु वह कार्य आपका नहीं है, क्योंकि उस कार्य का कर्ता कोई भिन्न पुरुष है।
22. उसकी प्रशंसा से प्रशंसनीय तो वही होगा जिसने कार्य किया है, प्रशंसनीय बनने के लिए आपको स्वयं ही प्रशंसनीय कार्य करना चाहिए।
23. पर-प्रशंसा करो, परन्तु स्व-पुरुषार्थ छोड़कर नहीं।
24. मेरे कार्य की सिद्धि तो स्वकार्य के प्रति किए पुरुषार्थ से ही होगी, पर-प्रशंसा मात्र से नहीं होगी।
25. बिना पुरुषार्थ के कोई भी वस्तु की उपलब्धि क्षीण-पुण्यात्मा जीव को असंभव है।
26. सदाचार की सिद्धि हेतु सद्-साहित्य का अध्ययन, वस्तुत्व का विचार, वस्तुत्व स्वतंत्रता पर दृष्टि, सदाचारी पुरुषों की संगति, हेय-उपादेय का गहन चिंतन तथा अस्ति के साथ नास्ति पर भी विचार करना चाहिए। उभय तत्त्व के विचार बिना सदाचार नष्ट हो जाएगा।
27. चर्या पर विचारों का गहरा प्रभाव रहता है; जैसे विचार होते हैं वैसा आचरण होने लगता है।
28. सदाचार के लिए विचारों का स्वस्थ रहना अनिवार्य है। शरीर कितना ही क्षीण हो जाए, परन्तु पवित्र विचारों में क्षीणता नहीं आना चाहिए।

29. यदि बर्तन बड़ा है तो पानी नीचे गिरकर कीचड़ नहीं करेगा और यदि पात्र छोटा है तो पानी नीचे गिरेगा, गीला होगा कीचड़ भी होगी।
30. जिसकी विचारधारा विराट् है, वह कुटुम्ब-परिवार, राज्य एवं राष्ट्र में विद्वेष की कीचड़ नहीं फेंकने देगा।
31. जब-जब घर-घर का, नगर-नगर का, राष्ट्र-राष्ट्र का युद्ध हुआ है, तब-तब वहाँ कोई-न-कोई छोटे सोच वाला अवश्य होगा।
32. तुच्छ-बुद्धि वाले कहीं भी हों वे सद्-भावना, सद्-विचार, सदाचार का घात करते ही हैं और कराने में भी अपनी अहं भूमिका निभाते हैं।
33. वे एकांकी-बुद्धि का प्रयोग कर अखण्डता को खण्ड-खण्ड करा देते हैं।
34. उनके मुख के शब्दों में करुणा रहती है, पर हृदय करुणा-शून्य ही रहता है।
35. तुच्छ-बुद्धि वाले व्यक्ति राष्ट्र के मुख्य-पद पर आसीन होने के पूर्ण अयोग्य हैं। जो जाति-कुल, परपम्पराओं के मद में आकण्ठ डूबा है, वह अखण्ड-भारत, अखण्ड-विश्व का खण्ड-खण्ड करा देगा।
36. जिस बात से अखण्डता सुरक्षित रहे इस बात पर अधिक बल देना चाहिए।
37. एकांकी चिंतन सद्भावना का शत्रु है।
38. जो अनेकान्त-दृष्टि से, बहुमुखी विचार-धारा से चिंतन करता है उसी में सद्भावना के सूत्रों का सूत्रपात होता है, जिससे स्व-पर हित का मार्ग खुलता है।
39. दीन-दुःखी जीवों के प्रति दया आती है। विशेष विचार करने की योग्यता सदाचारी के अन्दर सहज उत्पन्न होती है।
40. जहाँ किसी भी जीव के प्रति विपरीत विचार नहीं आते, नैतिकता विद्यमान रहती है, जहाँ शत्रु भी कल्याणकारी विचारों को स्वीकार कर लेते हैं, वहीं प्रेक्षाकारी प्रज्ञा होती है।
41. दुष्टों की विचारधारा वैर-विरोध, द्वेष को उत्पन्न करने वाली तथा सज्जनों की विचारधारा प्रेम-वात्सल्य, मैत्री-भाव को वृद्धिंगत करती है।
42. सदाचारी, नरोत्तम का विचार विकासशील होता है और होना भी चाहिए। सद्-सम्पत्तिवान सदाचारी के दान देने के विचार आते ही आते हैं।
43. दुःखी प्राणियों की कोई नियत-जाति नहीं है, दयालु को जाति देखकर उपकार के भाव आते हैं तो वह जातिवादी है, करुणावादी नहीं।
44. जाति देखकर दान देने के भाव हैं, तो जाति प्रेम है। प्राणी मात्र के प्रति एकत्व-भाव से उपकार-भाव है, करुणाभाव।

45. भूख-प्यास, शत्रुकृत उपद्रवों से व्याकुल हुए प्राणियों को अभय-दान देना, उनकी रक्षा करना, साम्यवादी भावना से युक्त जीवन जीना करुणादान है।
46. करुणादान में पात्र-अपात्र का विकल्प नहीं रखा जाता, मात्र दुःखी जीवों को देखकर उनका यथायोग्य सहयोग किया जाता है, परन्तु पात्र-दान में अपात्र-कुपात्र-सुपात्र का ध्यान रखा जाता है।
47. जगति पर अनुपलब्ध वस्तु की उपलब्धि चिंता से नहीं होगी, अपितु उद्यम से होगी।
48. जिसके भीतर उत्साह-शक्ति है, उद्यमशीलता है वही पुरुष विराट्-सम्पदा का स्वामी बन पाता है।
49. जहाँ उत्साह-भाव का अभाव है, वहाँ कुछ भी लाभ नहीं है।
50. कार्य करने के पूर्व जो अनुत्साहित हो चुका है, वह पुरुष नपुंसक पुरुषवत है।
51. नारी को देखते ही जिसकी शक्ति क्षीण हो जाती है वह इस वसुन्धरा पर क्या शत्रुओं की पत्नियों की माँग मिटाने वाले वीर-सपूत को उत्पन्न कर पाएगा?
52. उत्साह-शक्तिहीन जगति के किसी भी कार्य को पूर्ण नहीं कर पाएगा, कार्य की पूर्णता उन्हीं के द्वारा सम्भव है जिनके पास उत्साह-शक्ति है।
53. दीन-हीन दरिद्रता के साथ जीवन वे ही निकालते हैं जो अपने मूलधन का तो व्यय करते हैं, पर नवीन धन का अर्जन ही नहीं करते। उनकी श्वास-श्वास पीड़ा के साथ निकलती है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्यों को अपना मूलधन बढ़ाते हुए आय-अनुकूल व्यय करना चाहिए, जिससे दरिद्रता का कष्ट भविष्य में भोगना न पड़े।
54. दुःख व कष्ट के काल में भी सुख जैसा साथ जो देता है वही सच्चा-मित्र होता है, ऐसा मित्र प्रत्येक व्यक्ति का होना चाहिए, यही समय की पुकार है।
55. सबके दिन एक से नहीं होते और सब दिन भी एक से नहीं होते।
56. कष्टों के काल में भी जो काँटा बने वह सगा होने पर भी पर है और जो काँटों के चुभने पर सुई बनकर काँटा निकालता है वह मित्र है।
57. बुद्धिमान-मनुष्य को मूर्ख, दुष्ट, चाण्डाल, पतित-जाति तथा धर्म-च्युत मनुष्यों के साथ मित्रता नहीं करना चाहिए। जिनका प्रेम हल्दी के रंग जैसा क्षणिक होता है, उनसे मित्रता करने से भी क्या लाभ?।

58. यशवान धर्मात्मा व्यक्ति की गरीबी भी विशाल अमीरी-सी फलित होती है, इसलिए मित्रता यशवान धर्मात्मा-जनों से करनी चाहिए।
59. जो पतन के काल में शीघ्र ही अपना विवेकपूर्ण हस्तावलम्बन देकर कुमार्ग के गर्त से रक्षा कर ले, पर-स्त्री, पर-धन, कुधर्म और कुव्यसनों से दूर रखे ऐसा मित्र सात-समुद्रों को पार करके भी मिले तो उसे प्रयत्न-पूर्वक प्राप्त कर लेना चाहिए।
60. दुष्ट, दुराचारी, कामी, दुर्व्यसनी मित्र की मित्रता तोड़ने पर यदि करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं का घाटा लग रहा हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिए।
61. सद्-संगति, सुपात्रों की प्राप्ति, सद्धर्म पूर्व में किए सुकृत का सुफल है सुधर्म की प्राप्ति भी सद्धर्म-धारण से ही मिलती है।
62. ऐसी संगति करो, ऐसे स्थान पर बैठो जहाँ पर बैठने पर राज्य-सभा में क्या, साधुओं की सभा में भी सम्मान हो और पर-भव में परमात्म-पद की प्राप्ति हो।
63. ऐसी मैत्री और गोष्ठी किस काम की जिसका फल पशु बनकर, नारकी बनकर भोगना पड़े, इसलिए विवेकियों को दुष्टों की गोष्ठी तथा दुष्टों की मैत्री का पूर्ण त्याग करना चाहिए।
64. कुछ धातु (लोहा) की संगति से लोक में देवता संज्ञा को प्राप्त अग्नि भी लोहार के घन से पीटी जाती है, इसी प्रकार खोटे-आचार, खोटे-विचारवानों के संयोग से सुशील जन भी अपयश, मानसिक व शारीरिक-पीड़ा को प्राप्त होते हैं।
65. संगति और मैत्री परीक्षा करके ही स्वीकार करना चाहिए। पुण्यहीन, कुलहीन से घनिष्ट मैत्री स्थापित करने से अकीर्ति का कष्ट सहन करना पड़ता है।
66. कुलवान, सुशील, कीर्तिवान के सम्पर्क में आने पर विपत्तियाँ भी टल जाती हैं, इसलिए विवेकी, सदाचारी तथा कुलवन्तों के साथ ही अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।
67. समान-गुण तथा अधिक गुणवानों के साथ ही रहना चाहिए।
68. यश और सुख प्राप्ति की भावना है, तो हीन-आचरण, हीन-गुणी के साथ नहीं रहना चाहिए।
69. इष्ट-वस्तु व व्यक्ति के वियोग में जो दुःख होता है; उसे **शोक** कहते हैं।
70. शोक करने से असाता-वेदनीय कर्म का आस्रव होता है, जिससे व्यक्ति को स्वयं दुःखी होना पड़ता है।

71. इष्ट के वियोग में रुदन करने से कोई लाभ नहीं, इष्ट-वियोग में रोने से मृत बंधु तो आता नहीं। यदि रोने से मृत-सम्बन्धी वापिस आ जाए तो रोना ठीक है।
72. ज्ञानीजनों का कर्तव्य है कि मृतक के मरण पर अधिक अश्रुपात न करके, समय पर अंतिम-संस्कार करना चाहिए, अधिक देर नहीं लगाना चाहिए।
73. मृतक का 48 मिनट अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के अन्दर ही अन्दर संस्कार हो जाना चाहिए।
74. सदाचारी-जनों को मृत-शोक छोड़कर सर्वप्रथम संस्कार-विधि शास्त्र-विहित लोक-मर्यादा से करना चाहिए। तदोपरान्त धर्म-ध्यान के साथ पातक को पूर्ण रूप से पालना चाहिए।
75. अनित्यादि भावनाओं का चिंतन करके समय पूर्ण करें, सूतक के दिन पूर्ण होने पर शान्तिकर्म शान्ति-विधान से करें।
76. मृत्यु-भोज एक विकृत रूढ़ी है, इससे बचना चाहिए।
77. दान-पुण्य के भाव हैं, तो समय निकल जाने पर कोई सामर्थ्य-अनुसार अनुष्ठान कर लो, पर व्यर्थ में धन व्यय न करें।
78. स्व-शक्ति को देखकर जो दानादि कर्म करता है, उसे भविष्य में संक्लेशता, दरिद्रता जैसी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता है।
79. जो लोग अपनी आय का ध्यान दिए बिना व्यय करते हैं, वे शीघ्र ही स्वदेश अथवा परदेश में धन अभाव के कारण ऋण आदि के कारण मानसिक पीड़ा से पीड़ित होते हैं, अन्ततः आत्महत्या जैसे पाप से पतित हो जाते हैं।
80. कल्याणप्रद-कार्यों में अपनी सांसारिक-कामनाओं का त्याग करना पड़ता है। भव्योत्तम वे जीव हैं, जो सद्कार्य करते हुए भी बदले में कोई अन्य कामना नहीं करते।
81. संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो व्यक्ति की तृष्णा-ज्वाला को शान्त कर सके। एकमात्र संतोष-सलिल ही ऐसा है, जिससे तृष्णा-ज्वाला शान्त हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है।
82. धन्य-धन्य-धन्य वे भव्योत्तम जिन्होंने समता रूपी सन्तोष-जल से अपनी तृष्णा-ज्वाला को शीघ्र ही उपशान्त कर लिया है।
83. जीवन उत्थान का मार्ग सदाचार ही है। सज्जन-सदाचारी जन जीवन के सम्पूर्ण-

दिवसों को साक्षी-भाव से अवलोकन करते हैं और मध्यस्थ-धर्म में प्रवेश कर जाते हैं।

84. कुछ अनहोनी होने पर भी वस्तु-व्यवस्था का चिंतन कर विस्मरण कर देते हैं।

85. भूल जाना; आत्मस्थ होने का एक सुन्दर उपाय है। जो भी शुभाशुभ घटित होता है, वह जीव को हर्ष एवं विषाद के लिए होता है, पर हर्ष-विषाद को मात्र वे ही प्राप्त होते हैं जिन्हें **'सत्यार्थ-बोध'** नहीं है।

86. शीघ्र भूलना वही जानते हैं, जो सत्यार्थ ज्ञाता हैं, भूतार्थ-बोध युक्त हैं। जो बुरी स्मृतियों को शीघ्र भूल जाते हैं, वे हमेशा प्रसन्न रहते हैं।

87. सदाचरण व्यक्ति के जीवन को ऊँचाईयाँ प्रदान करता है, सज्जातित्व एवं सुकुलता को वर्धमान करता है।

88. जो व्यक्ति सदाचार रूप वस्त्र से अलंकृत नहीं है, वह सुन्दर-वस्त्रों से वेष्ठित होने पर भी नग्न ही है।

89. सदाचार से विभूषित शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतैव लोकप्रिय होने के लिए भी आचरण विशुद्ध रखना चाहिए।

90. ऐसे भूतल पर भूधर बहुत हैं, हुए हैं और भविष्य में होंगे, जो लोकप्रिय होना चाहते हैं, पर उनको विशुद्ध-आचरण प्रिय नहीं है।

91. उन्हें बोध होना चाहिए कि लोकप्रियता चाहने तथा बहिरंग-प्रदर्शन मात्र से प्राप्त नहीं होती है।

92. साधु हो या असाधु, राजा हो या रंक उसे लोकप्रियता की चाह है, तो उसे यह यथार्थ समझना चाहिए कि मात्र फोटो और चित्रों से लोकप्रियता नहीं हो सकती है, उसके लिए तद्-संबंधी पुण्य होना चाहिए।

93. यशःकीर्ति नामकर्म, सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मों का उदय तथा प्रत्यक्ष में सदाचरण एवं सद्-व्यवहार भी चाहिए।

94. बिना सदाचरण एवं सद्-व्यवहार के आपकी लोकप्रियता की भावना बन्ध्या सुत खिलाने की है अर्थात् न बन्ध्या के पुत्र होगा न वह खिला पाएगी।

95. सौभाग्यवती, पुत्रोत्पत्ति की योग्यता वाली नारी ही अपने गृह-आँगन में सुत को खिला पाती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ-विशुद्ध-निर्मल आचरण, ज्ञान-दर्शन सम्पन्न सद्-व्यवहारी जीव ही यशवंत यशगानयुक्त लोकप्रिय बन पाता है, इसलिए समाज नेता हो या धर्मनेता, राजनेता सभी को अपना आचरण पवित्र रखना चाहिए।

96. सदाचारी प्रत्येक कार्य समय पर करता है, क्योंकि समय पर किया गया कार्य श्रेष्ठ फलवान होता है। असमय में किया गया कार्य अपयश का ही कारण बनता है।

97. जो विवेक-विहीन कामी काम-वासना के वश होकर दिवा-मैथुन करता है तथा रजस्वला स्त्री का सेवन करता है वह चाण्डाल से भी नीच होता है।

98. भूखा सो जाऊँ, भीख माँगकर जीवन जी लूँ, परमात्मा का स्मरण-पूर्वक प्राण त्याग कर समाधि ले लूँ, किन्तु अभक्ष्य-भोजन, अनीति के धन से जीवन न जियूँ, सदाचारी का ऐसा विचार रहता है।

99. सज्जनों को सुखी-जीवन जीना है, तो सन्देह-शीलता पर भी विजय प्राप्त करना चाहिए। पग-पग पर, क्षण-क्षण में जो सन्देह करता हो उसका कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता है।

100. स्व-निर्णय पर ही जिसे सन्देह हो, वह पर के श्रेष्ठ निर्णय पर क्या विश्वास कर पाएगा? विश्वास किए बिना किसी भी कार्य को आगे गति नहीं दी जा सकती।

101. शंकालु सन्देही व्यक्ति अविश्वास में ही समय नष्ट करता है।

102. जिस दृढ़ता, निश्चयात्मक दृष्टि से कार्य प्रारंभ किए जाते हैं, अन्त तक वही विश्वास-दृढ़ता दृढ़ रहना चाहिए, तभी लौकिक एवं पारमार्थिक कार्य पूर्ण हो सकते हैं।

104. सन्देह में न आप किसी पर विश्वास बना पाएँगे और न ही अन्य कोई आपके ऊपर विश्वास स्थापित कर पायेंगे। विश्वास से ही सर्व-कार्यों की सिद्धि होती है।

104. अपेक्षा के बिना ही प्राणिमात्र के प्रति सहज-प्रीति जिसके भीतर होती है, वह जगति की सर्व-विशिष्ट विभूतियों में उत्कृष्ट विभूति सम्पन्न पुरुष है।

105. प्रेम-शून्य जीना श्रेष्ठ जीवन नहीं, जीवन श्रेष्ठ तो वही है जिसमें परस्पर धर्म-धर्मात्माओं के प्रति प्रेम-वात्सल्य स्नेह विद्यमान है।

106. प्रेम-वात्सल्य रहित देह-धारी मात्र हड्डियों का ढेर हैं। प्रेम लता में श्रद्धा के पुष्प खिलते हैं और उसी में निःश्रेयस अभ्युदय सुख के फल लगते हैं।

108. वात्सल्य-प्रेम-स्नेह से अतिथि को देख लें। किसी को मत ठुकराओ, अपितु हृदय से लगाओ। जिसे तुम ठुकरा रहे हो वह भी कभी आपके काम में आएगा। सबके दिन एक से नहीं होते, सब दिन भी एक से नहीं होते।

109. ज्ञानीजन कुछ बातें समय पर छोड़ देते हैं, समय आएगा तब समाधान हो जाएगा।

110. मत मुँह फुलाओ साधु-महात्माओं को देखकर। मत मारो साँप-गोहरे को, वे भी शक्ति-रूप भावी भगवान् हैं।

111. पशु-पक्षियों, भृत्यादि के भोजन में भी अन्तराय करोगे, तब भी तुम्हें अशुभ-कर्म का बंध होगा फिर तुम अज्ञानतावश, द्वेषवश संयमी के आहार में ही विघ्न करोगे तो फिर उसका क्या दुष्फल होगा? बन्धुओ! प्रयत्नपूर्वक अनर्थ-कार्यों से बचो।

112. सम्पूर्ण राष्ट्र को स्नेह-प्रेम-वात्सल्य के सूत्र में बाँधो। महामारी जैसी आपत्ति में भेद-भावना को भुलाकर, जन-जन में राष्ट्र-भावना का विकास करो, परस्पर मिलकर दुःखियों के दुःख दूर करो, मैत्री-भावना का विकास करो।

113. संकट के काल में परस्पर उपकार करने का अवसर है; दूसरे के सहयोग को दुर्भाग्य मत मानो, यह तो सौभाग्य स्वीकार करो।

114. हमारा तन-मन-धन दूसरे की विपत्ति-हरण करने में सहकारी बन रहा है। दुःख-संकट-विपत्ति के समय अपनी स्वशक्ति से दुःखियों के दुःख दूर करने का पुरुषार्थ करना बहुत बड़ा अनुष्ठान है।

115. दया-धर्म को किसी धार्मिक-अनुष्ठान से कम नहीं समझना।

116. अहिंसा परम-धर्म विश्व का सबसे बड़ा धर्म है, अहिंसा-करुणा-दया से शून्य कोई धर्मानुष्ठान जगति पर श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं होता।

117. अहिंसा धर्म एकमात्र ऐसा अनुष्ठान है जिसमें बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक सभी संलग्न हो सकते हैं।

118. विश्वभूमि को प्रसन्नचित्त देखने के अनुष्ठान का पवित्र फल प्राप्त करो। अपने द्वारा किसी का हित हो जाए तो उसे अहंकार में नहीं देखना, उसे अहो-भाग्य मानो।

119. अच्छे कार्य की प्रशंसा एवं अशुभ या प्रतिकूल कार्य में माध्यस्थ-भाव ज्ञानी-जन ही करते हैं, मूढ़-प्राणी नहीं कर पाते, क्योंकि उन्हें विचारों को पवित्र करने की प्रज्ञा ही प्राप्त नहीं हुई है।

120. हेय-उपादेय-ज्ञेय की धारा बुद्धि में चलती है तब जब व्यक्ति विशिष्ट पुण्य के साथ जीवन जीता हो।

121. बिना पुण्योदय के 'सत्यार्थ-बोध' नहीं होता और 'सत्यार्थ-बोध' के बिना जीवन पशुवत हो जाता है।

122. अहो प्रज्ञात्मन् ! स्वात्मा के वैभव को समझो, स्व-पर हित हेतु आगम वर्णित तत्त्व का सम्यक्-अभ्यास करो, क्योंकि तत्त्व-ज्ञान के बिना वस्तु के वस्तुत्व का बोध नहीं हो सकता है।

123. वचन-कुशलता सदाचारी का विशिष्ट-गुण है। जैसे मधुर-आम्रफल सबके चित्त को लुभा लेता है; नर-तिर्यञ्च सर्व-प्राणी आम खाने की इच्छा करते हैं, इसी प्रकार मधुर-भाषी के वचनों को श्रवण करने की सभी जीव इच्छा रखते हैं।

124. प्रत्येक क्षण मधुर, मित-भाषी के वचन मंत्र सम गूंजते हैं।

125. तुम्हारे शब्द, भाषा, वाणी जगत्-कल्याणी बने।

126. जगत् को स्व-अनुकूल बनाने की बलात्-चेष्टा करना भी हिंसा है।

127. करुणा, दया, अनुकंपा की शिक्षा प्राणी-मात्र को देना ही चाहिए। धर्म शिक्षा दो, परन्तु स्व-स्वार्थ पूर्ति हेतु नहीं।

128. एकता का पाठ पढ़ना चाहिए, परन्तु विश्व के सम्पूर्ण-द्रव्यों को एकरूप में देखने की कोशिश नहीं करना चाहिए। यदि विश्व एक हो गया तो जड़-चैतन्य का भेद समाप्त हो जाएगा, आम-नींबू एक स्वाद देंगे। नहीं देंगे; बाकी नाम नीबू रुप नहीं रोगा।

130. विचारों में सत्यार्थ-मार्ग पर एकता का विचार होना चाहिए, न कि सम्पूर्ण पुरुषों का एक स्वभाव।

131. सम्पूर्ण-द्रव्यों का स्व-स्वभाव, भिन्नत्व-अभिन्नत्वभूत वस्तु-स्वभाव का विवेक ज्ञानी-जनों का कर्तव्य है।

132. सबके साथ रहकर सबसे भिन्न रहना, परन्तु मित्रता के व्यवहार को अभिन्न रखना भी एक कला है। यह तभी सम्भव है जब स्व-विशेषताओं के साथ दूसरे की विशेषताओं को भी महत्त्व देना आना चाहिए।

133. जो पुरुष भिन्न-जनों के अन्दर भी गुण देखना जानता है, वह सबके साथ वास कर सकता है, स्व-गुणों को देखते हुए आनन्द-प्रसन्नता इसी में है।

134. जो लोग मात्र अपनी विशेषता को ही देखना जानते हैं, अन्य के विशेष-गुणों को तुच्छ समझते हैं, स्व से भिन्न पुरुष को महत्त्व देना नहीं जानते, मात्र स्व-

स्व पेट एवं पेटी पर जीते हैं वे लोग किसी के साथ प्रेम व आनन्द के साथ निवास नहीं कर सकते।

135. प्रेम-वात्सल्य औषध जिसके पास है, वह पुरुष पशुओं के मध्य भी पुरुषों जैसा दुलार पाएगा, वन-खण्ड में भी राज्य-सुख पाएगा।

136. स्व की अनुकूलता के साथ दूसरे की भी अनुकूलता देखो; यही जिनोपदेश है।

137. **'जिओ और जीने दो'** सूत्र के अनुसार यदि विश्व का जीवन प्रारंभ हो जाता है, तो कभी भी विश्व-युद्ध नहीं होगा और न ही गृह-युद्ध। विश्व-मैत्री इस सूत्र पर ही अवलम्बित है।

138. सभी जीव दया-दम-त्याग-समाधि के साथ आत्मनिर्भर बनें, भगवान् महावीर स्वामी का 'सर्वोदयी-तीर्थ' विश्व में जयवन्त रहे, हर व्यक्ति विश्व-हित पर विचार करे, तभी मानव जाति की पहचान होगी।

139. हिंसा, आतंक, पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-स्त्री के हरण से मानवता की रक्षा नहीं होगी।

140. मानवता की विशुद्ध-भावों से रक्षा करना ही सच्ची-साधुता है, वही विश्व-हितंकारी प्रज्ञावान पुरुष है।

141. अहो प्रज्ञात्मन्! आत्म-शोध ही 'सत्यार्थ-बोध' है। आत्म-शान्ति का मूल-मंत्र धैर्य है।

142. कालुष्य भाव के अभाव का पुरुषार्थ पुरुष की विशिष्ट-साधना है।

143. पास होने पर कुछ लोग कष्ट दे सकते हैं और दूर होने पर भी कष्ट मिटा सकते हैं, इस सत्य को समझो।

144. नम्र वृत्ति, प्रिय-भाषण मानवता के ये दो हैं श्रेष्ठ आभूषण।

145. **श्रुतसंवेग-भाव आत्म-शान्ति का परम उपाय है तथा यही मोक्ष-प्रासाद का विराट्-द्वार है।**

146. धर्म-निरपेक्ष जीवन सुगन्ध-शून्य पुष्पवत है।

147. पंचमकाल में श्रुत-आराधना, स्वाध्याय परम-तप और ध्यान है, इसलिए सतत-स्वाध्याय में लीन रहो।

148. अहो ज्ञानी! संसार की माताओं की गोद में जाओगे तो बदनाम हो जाओगे, पर माँ-भारती जिनवाणी की गोद में जाओगे तो यशवान हो जाओगे।

149. अहो मित्र! जगत् की ललनाएँ गले पड़ गईं तो कंगाल हो जाओगे और वागीश्वरी माँ जिनवाणी गले में बस गई तो मालामाल हो जाओगे।

150. धैर्य व्यक्ति की अंतरंग शक्ति का परिचायक है और अधीरता आत्म-बुराई जो आत्म-विकास का प्रचण्ड गति-अवरोधक है, इसलिए अधीरता से शीघ्र ही आत्म-रक्षा करो।

151. अहो आत्मन् ! भवातीत होना है तो पर-भावों के राग की भावना से अतीत हो जाना चाहिए।

152. आपके बारे में कौन क्या सोच रहा है, इस पर विचार मत करो। मैं लोगों के बारे में क्या सोचता हूँ, इस पर विचार करो, यही सम्यक्-सदाचार है।

मंगल भावना

स्वयं जियो व अन्य जगति के सर्व-जीवों को जीने दो। अहिंसा, दया, करुणा, मैत्री वात्सल्यपूर्ण-धर्म जगति पर सदा-सदा जयवन्त हो। साथ ही **'सत्यार्थ-सूत्र'** की उपलब्धि विश्व-धरा पर तब-तक जयवंत रहे जब-तक अवनि-अम्बर का अन्त न हो।

॥ इदि अलं ॥